कोई ६ वर्ष पहले की बात है, 'अनेकान्त' नामक मासिक पत्र की ८, ६, १० किरण देख रहा था। हठात मेरी दृष्टि "मारवाड़ का एक विचित्र मत" और दीक्षितजी का स्पष्टीकरण शीर्षक लेख पर जा पड़ी। पं० शंकरप्रसादजी दीक्षित ने जनवरी सन् १६३० के 'चाँद' में 'मारवाड़ का एक विचित्र मत' लेख प्रकाशित करवाया था। लेख में तेरहपन्थ सम्प्रदाय का परिचय (?) दिया था परन्तु 'तेरहपंथ' शब्द के पहिले श्वेताम्बर या दिगम्बर शब्द न रहने से दिगम्बर समाज ने अपने 'तेरहपन्थ' सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ही उसको लिखा समझा और इससे दिगम्बर तेरापन्थी भाइयों को काफी क्षोभ हुआ और इस लेख के प्रतिवाद में लेख भी निकाले। बाद में जब दीक्षितजी को मालूम हुआ कि दिगम्बर समाज में भी तेरहपन्थ सम्प्रदाय है तो, उन्होंने एक स्पष्टीकरण लिख दिया—'जनवरी के चाँद में मेरा जो लेख 'मारवाड़ का एक विचित्र मत' शीर्षक प्रकाशित हुआ है, वह दिगम्बर तेरहपन्थियों के विषय में नहीं है, किन्तु श्वेताम्बर-तेरहपन्थियों के विषय में है' × ×—'अनेकान्त' के विद्वान सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस स्पष्टीकरण को अपने पत्र में प्रका-

शित करते हुए अनेकान्त की उपरोक्त किरण के उक्त लेख में स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखा था '× × × यह जानते हुए भी कि जैनियों के अहिंसा धर्म की महात्मा गांधीजी जैसे असाधारण पुरुष भी बहुत बड़ी प्रशंसा करते हैं, एक जरा से छिद्र को लेकर—एक भूले-भटके आधुनिक समाज की बात को पकड़ कर—मूल जैनधर्म को अपने आक्षेप का निशाना बना डाला ! उसे हिंसाप्रिय धर्म तक कह डाला ! , यह निःसन्देह एक बड़ी ही असावधानी तथा अक्षम्य भूल का काम हुआ है। सावधान लेखक ऐसा कभी नहीं करते।'

इस किरण के पहले एक अन्य किरण में भी पं० माधवाचार्य, रिसर्च स्कालर महानुभाव के 'भारतीय दर्शन शास्त्र' नामक लेख को पढ़ते हुए श्वेताम्बर तेरापन्थी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्गार मिले थे :—

'आज से करीब दो सौ वर्षों के पहिले बाईस टोला से निकल कर श्री भीखमदासजी मुनि ने तेरहपन्थ नाम का एक पन्थ चलाया।

इसमें सूत्रों की मान्यता तो बाईस टोला के बराबर है परन्तु स्वामी दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश की तरह इन्होंने भी भ्रम विध्वंसन और अनुकम्पा की ढाल बना रखी है। इस मत ने दया और दान का बड़ा अपवाद किया।'

एक प्रतिष्ठित पत्र में बिना आधार ऐसे उद्गारों को प्रकाशित होते … कर हृदय में जो भी भाव उठे हों उनमें एक भाव सर्वोपरि था

कि श्वेताम्बर तेरापन्थ सम्प्रदाय के प्रवर्तक महामना श्रीमद् आचार्य भीखणजी के विचारों का एक संग्रह हिन्दी में क्यों न निकालूँ ? उनके विचार रत्नों को क्यों न जैन विद्वानों के सामने लाऊँ ? जिससे उनकी सच्ची समालोचना हो सके। ये विचार आज के ६ वर्ष पहिले उठे थे और उनमें मुख्यतः पं० जुगलकिशोरजी के 'भूले भटके' और 'आधुनिक' इन दो शब्दों की प्रेरणा थी। प्रेरणा तो जागृत हुई परन्तु मेरे पास पर्याप्त सामग्री न थी कि इस विषय में प्रामाणिक पुस्तक लिख सकूँ। इसके लिए तो मुझे स्वामीजी की एक-एक रचनाओं को देख जाना चाहिए। गम्भीर अध्ययन और चिन्तन की दरकार थी। साधुओं के दीर्घ-कालीन सहवास बिना मूल प्रतियाँ सुलभ न थीं और न उनकी समझ ही। फिर भी भावना का जोर बढ़ता जाता था। करीब पाँच वर्ष पहिले श्रीमद् आचार्य जयगणि रचित 'भिक्षु यश रसायण' नामक स्वामीजी के जीवन-चरित्र की एक प्रति अनायास हाथ आ गई। यह जीवन-चरित्र पढ़ जाने के बाद भावना ने और भी जोर पकड़ा। और फिर तो जो भी तेरापन्थी साहित्य हाथ में आया उसे मनोयोग पूर्वक पढ़ने और समझने की चेष्टा करता रहा। इस बीच साधुओं के सत्संग का भी लाभ मिला, तथा समय-समय पर अवकाश निकाल कर कुछ लिखना भी शुरू किया। यह पुस्तक मेरे ऐसे ही प्रयत्नों का फल है। ६ वर्ष पहले उठी भावनाओं को आज कार्य रूप में परिणत कर सका हूँ जैसे कोई जीवन की एक साध पूरी हुई हो।

ऐसे आत्मानन्द का अनुभव करता हूं जैसे मैंने कोई अपने जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया हो। और इस सब के लिए मेरी पहली कृतज्ञता विद्वान पं० जुगलकिशोरजी के प्रति है। यदि इतने लम्बे समय तक 'भूले-भटके' और 'आधुनिक' ये दो शब्द मेरे कानों में अपनी ध्वनि नहीं करते रहते तो शायद यह कार्य पूरा न होता। इसलिए मैं उनका ऋणी अवश्य हूँ।

यह पुस्तक कोई मेरी मौलिक रचना नहीं है, परन्तु मारवाड़ी भाषा में लिखी हुई स्वामीजी की रचनाओं से और उनके आधार पर हिन्दी भाषा में तैयार किया हुआ संग्रह है। इस पुस्तक के तैयार करने में अनुकम्पा, दान, जिन आज्ञा, समकित, श्रद्धा आचार, बारह व्रत आदि विषयों की स्वामीजी की रचनाओं का उपयोग किया गया है। अनुवाद करते समय शब्दों पर विशेष ध्यान न रख कर मूल भाव को आँच न पहुँचे इसका खास लक्ष रखा है। अनुवाद छाया अनुवाद या भावानुवाद कहा जा सकता है। किसी गाथा का अनुवाद करते समय उसके मूलस्थल की साख अनुवाद के बाद दे दी है, जिससे इच्छा करने पर स्वामीजी की मूल रचनाओं के साथ सुगमतापूर्वक मिलाया जा सकता है। इस प्रकार जिस गाथा के बाद में साख नहीं दी हुई है वह विषय की गम्भीरता को स्पष्ट करने के लिए या तो मेरी अपनी लिखी हुई या सूत्रों के आधार पर तैयार की हुई है। अन्तर शीर्षक और विषय क्रम मेरा है।

पुस्तक में (१) अनुकम्पा (२) दान (३) जिन आज्ञा

(४) समकित (५) श्रावकाचार (६) साधु आचार इन विषयों पर स्वामीजी के विचारों का संग्रह है।

हरेक विषय को समझाने के लिए उसके अन्तर शीर्षक कर दिए हैं और किसी एक अन्तर शीर्षक के सम्बन्ध की सामग्री उस विषय के या अन्य विषय की रचनाओं से चुन कर एक जगह रख दी है। उदाहरण स्वरूप पहला विषय अनुकम्पा का है। अनुकम्पा का पहला अन्तर शीर्षक अहिंसा की महिमा है। इस सम्बन्ध की जिस ढाल मे जो विशेषता वाली गाथा है वह इस शीर्षक में रख दी है। इसी प्रकार से अन्य अन्तर शीर्षकों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

नवतत्त्व, शील की नववाड, इन्द्रियाँ—सावद्य या निर्वद्य ? क्या साधु के अव्रत होती है ? पर्यायवाची की ढालें आदि बहुत से विषयों सम्बन्धी स्वामीजी के विचारों को इस पुस्तक में सम्मिलित नहीं किया जा सका। बारह व्रत और नवतत्त्व तो मौलिक विस्तृत टिप्पणियों सहित ही तैयार किया था। विस्तार भय से बारह व्रत संक्षिप्त रूप तथा टिप्पणियों को छोड़ कर पुस्तक में गर्भित कर दिया है परन्तु पुस्तक विशाल होने के भय से नवतत्त्व अंतरित नहीं किया गया और उसे भविष्य के लिए रख लिया है। स्वामीजी के जीवन में सैकड़ो हजारों चर्चाओं के प्रसंग आए हैं। उनकी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ भी पुस्तक में देने का विचार था परन्तु पुस्तक बड़ी हो जाने के भय से न देकर भविष्य के लिए रख लिया है।

उपोद्घात

श्रीमद् आचार्य भीखणजी का जन्म मारवाड़ राज्य के कंटालिया ग्राम में सम्वत् १७८३ की आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी—सर्व सिद्धा त्रयोदशी को मूल नक्षत्र में सोने के पाये से हुआ था। इनके पिता का नाम बलूजी संखलेचा और माता का नाम दीपाँ बाई था। ये बालकपन से ही बड़े वैरागी थे और धर्म की ओर विशेष रुचि रखते थे। इनको जो कुछ शिक्षा हुई वह गुरु के यहाँ ही हुई थी। वे महाजनी में बड़े हुशियार थे और घर के काम-काज को बड़ी कुशलता पूर्वक संभाला करते। पंच-पंचायती के कामों में वे अग्रसर रहते थे।

जन्म—

भीखणजी का विवाह कब हुआ यह मालूम नहीं परन्तु पता चलता है कि वह छोटी उमर में ही कर दिया गया था। परन्तु इस प्रकार बाल्यावस्था में ही वैवाहिक जीवन में फंस जाने पर भी उनकी आन्तरिक वैराग्य भावानाओं में फर्क नहीं आया। भोग और विलास में न पड़ वे और भी संयमी और संसार से खिन्न चित्त हो गये। भीखणजी की पत्नी उन्हीं की तरह धार्मिक प्रकृति की थी।

विवाह—

विषय सूची यथास्थान लगा दी है। और आरम्भ में स्वामीजी की प्रामाणिक जीवनी भी लगा दी है जिससे स्वामीजी के विचारों के साथ-साथ उनके महत्त्वपूर्ण जीवन की झांकियाँ भी पाठकों को मिल सके।

इस पुस्तक प्रकाशन का सारा खर्च उदारतापूर्वक चुरू (बीकानेर) निवासी श्रीयुक्त रुक्मानन्दजी सागरमलजी ने उठाया है, जिसके लिए उनका आभारी हूँ।

पुस्तक तैयार करने में इस बात का खास ध्यान रक्खा है कि कहीं कोई गल्ती न रहे फिर भी स्वामीजी के गम्भीर विचारों को अपनी ओर से लिखने में गलती रहना सम्भव है। प्रूफ की गल्तियाँ भी यत्रतत्र रही हों। इन सब के लिए मैं पाठकों का क्षमापात्र हूँ और ऐसी गल्तियाँ जो भी मुझे सुझाई जायँगी उसके लिए मैं आभारी होऊँगा।

प्रेस के मालिक मित्रवर भगवतीसिंहजी बीसेन से प्रेस के कार्य के सिवाय जो और सहयोग मिला वह कम नहीं है। उसके लिए मैं पूरा कृतज्ञ हूँ।

यदि पाठकों ने मेरे इस प्रयत्न को अपनाया तो शीघ्र ही इनके सामने स्वामीजी की अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को हिन्दी में रखने का प्रयत्न करूँगा।

श्रीचन्द रामपुरिया

त्नी दोनों ने ग्रहण किया। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक व्रजित होने की अभिलाषा पूरी न हो तब तक वे एकान्तर—क दिन के बाद एक दिन—उपवास किया करेंगे। परन्तु व्रजित होने की मनोकामना पूरी होने के पूर्व ही भीखणजी की त्नी का स्वर्गवास हो गया। अब भीखणजी अकेले रह गये। लोगों ने उनको फिर विवाह कर लेने के लिए समझाया परन्तु वे दृढ़चित्त रहे। उन्होंने लोगों की एक न सुनी और प्रतिज्ञा की कि वे यावज्जीवन विवाह नहीं करेंगे।

इस प्रकार भीखणजी ने मुनि जीवन के लिए अपने को पूर्ण रूप से तैयार कर लिया और समय पाकर आचार्य श्री रुघनाथजी के हाथ से प्रव्रज्या ली। कहा जाता है कि जब भीखणजी उदर में थे तब माता दीपाँबाई ने स्वप्न में एक केशरी सिंह का दृश्य देखा था। इससे उनकी धारणा थी कि उनका पुत्र बड़ा यशस्वी पुरुष होगा और वह उस शुभ मुहूर्त की धीर चित से प्रतीक्षा कर रही थीं। इसी बीच में दीक्षा लेने के लिए आज्ञा देने की मांग उनके सामने आई। भीखणजी अपनी माता के एक मात्र पुत्र और सहारे थे। भीखणजी के इस विचार को दीपाँ बाई सहन न कर सकीं और इसलिए दीक्षा के लिए अनुमति देना अस्वीकार कर दिया।

अनुमति देना अस्वीकार करते समय माता दीपाँ बाई ने आचार्य श्री रुघनाथजी से सिंह-स्वप्न की भी चर्चा की थी और कहा था कि भीखणजी के भाग में साधु होना नहीं परन्तु

वैराग्य और दीक्षा

भीखणजी के माता-पिता गच्छवासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतः पहले-पहल इसी सम्प्रदाय के साधुओं के पास भीखणजी का आना-जाना शुरू हुआ। बाद में वे इन के यहाँ आना-जाना छोड़ पोतियाबंध साधुओं के अनुयायी हुए। परन्तु इनके प्रति भी उनकी भक्ति विशेष समय तक न टिक सकी और वे स्थानक सम्प्रदाय की एक शाखा विशेष के आचार्य श्री रुघनाथजी के अनुयायी हुए।

इस तरह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के संसर्ग से चाहे और कोई लाभ हुआ हो या न हुआ हो परन्तु इतना अवश्य हुआ कि भीखणजी की सांसारिक जीवन के प्रति उदासीनता दिनों-दिन बढ़ती गई। और यह यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने दीक्षा लेने का विचार कर लिया। पूर्ण यौवनावस्था में पति-पत्नी दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया और इस प्रकार उठते हुए यौवन की उद्दाम तरंगों पर वैराग्य और संयम की गहरी मुहर लगा दी और प्राप्त भोगों को छोड़ कर सच्चे त्यागी होने का परिचय दिया। कहा भी है :—

> 'वस्त्र गंध अलंकारो, स्त्रीओ ने शयनासनो,
> पराधीन पणे त्यागे, तेथी त्यागी न ते बने।
> जे प्रियकान्त भोगो ने पामी ने अळगा करे,
> स्वाधीन प्राप्त भोगों ने, त्यागे त्यागी ज ते खरे।'

ब्रह्मचर्य के नियम के साथ-साथ एक और नियम भी पति

पत्नी दोनों ने ग्रहण किया। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक प्रव्रजित होने की अभिलाषा पूरी न हो तब तक वे एकान्तर— एक दिन के बाद एक दिन—उपवास किया करेंगे। परन्तु प्रव्रजित होने की मनोकामना पूरी होने के पूर्व ही भीखणजी की पत्नी का स्वर्गवास हो गया। अब भीखणजी अकेले रह गये। लोगों ने उनको फिर विवाह कर लेने के लिए समझाया परन्तु वे दृढ़चित रहे। उन्होंने लोगों की एक न सुनी और प्रतिज्ञा की कि वे यावज्जीवन विवाह नहीं करेंगे।

इस प्रकार भीखणजी ने मुनि जीवन के लिए अपने को पूर्ण रूप से तैयार कर लिया और समय पाकर आचार्य श्री रुघनाथजी के हाथ से प्रव्रज्या ली। कहा जाता है कि जब भीखणजी उदर में थे तब माता दीपांबाई ने स्वप्न में एक केशरी सिंह का दृश्य देखा था। इससे उनकी धारणा थी कि उनका पुत्र महा यशस्वी पुरुष होगा और वह उस शुभ मुहूर्त्त की धीर चित से प्रतीक्षा कर रही थीं। इसी बीच में दीक्षा लेने के लिए आज्ञा देने की मांग उनके सामने आई। भीखणजी अपनी माता के एक मात्र पुत्र और सहारे थे। भीखणजी के इस विचार को दीपां बाई सहन न कर सकीं और इसलिए दीक्षा के लिए अनुमति देना अस्वीकार कर दिया।

अनुमति देना अस्वीकार करते समय माता दीपां बाई ने आचार्य श्री रुघनाथजी से सिंह-स्वप्न की भी चर्चा की थी और कहा था कि भीखणजी के भाग में साधु होना नहीं परन्तु

कोई वैभवशाली पुरुष होना यदा है। इस प्रकार हठ करते हुए देख कर आचार्य श्री रुघनाथजी ने दीपाँ बाई से कहा था कि तुम्हारा यह स्वप्न मिथ्या नहीं जा सकता। प्रव्रज्या लेकर भिक्खू सिंह की तरह गूंजेगा। आचार्य श्री रुघनाथजी की यह भविष्य वाणी अक्षरशः सत्य निकली। माता की धारणा के अनुसार भीखणजी कोई ऐश्वर्य्यशाली मुकुटधारी राजा तो न हुए परन्तु त्यागियों के राजा, तत्त्वज्ञान और अखण्ड आत्म-ज्योति के धारक महा पुरुष अवश्य निकले।

स्वामीजी की दीक्षा सम्वत् १८०८ की साल में हुई। उस समय उनकी अवस्था २५ वर्ष की थी। उन्होंने पूर्ण यौवनावस्था में मुनित्व धारण किया। प्रव्रजित होने के बाद प्रायः ८ वर्ष तक वे आचार्य श्री रुघनाथजी के साथ रहे। इस अवसर को उन्होंने जैन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन और चिंतन में बिताया। भीखणजी की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी। वे तत्त्व को बहुत शीघ्र ग्रहण करते थे। थोड़े ही दिनों में उन्होंने जैन तत्त्वज्ञान और धर्म का तलस्पर्शी और गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया। चर्चा में बड़े तेज निकले। वे आचार्य श्री रुघनाथजी से तत्त्वज्ञान, धर्म और साधु आचार-विचार सम्बन्धी गम्भीर प्रश्न करते रहते। गुरु शिष्य में परस्पर अत्यन्त प्रीति और विश्वास भाव था। और यह प्रगट बात थी कि भावी आचार्य भीखणजी ही होंगे।

सम्वत् १८१५ की बात है। एक ऐसी घटना घटी जिसने भीखणजी के जीवन में एक महान परिवर्तन कर दिया। मेवाड़ में राजनगर नामक एक शहर है। वहाँ पर उस समय आचार्य श्री रुघनाथजी के बहुत अनुयायी थे। इन अनुयायियों में अधिकांश महाजन थे और कई आगम रहस्य को जाननेवाले श्रावक थे। साधुओं के आचार-विचार को लेकर इनके मन में कई प्रकार की शकाएँ खड़ी हो गई थीं और बात यहाँ तक बढ़ी कि इन श्रावकों ने आचार्य श्री रुघनाथजी की सम्प्रदाय के साधुओं को वन्दना नमस्कार करना तक छोड़ दिया। इन श्रावकों से चर्चा कर उन्हे अनुकूल लाने के लिए भीखणजी भेजे गये। भीखणजी ने राजनगर मे चौमासा किया और श्रावकों को समझा कर उनसे वंदना करना शुरु करवाया। श्रावकों ने वंदना करना तो स्वीकार किया परन्तु वास्तव में उनके हृदय की शकाएँ दूर नही हो सकी थीं। उन्होंने स्वामीजी से साफ कहा भी कि हमारी शंकाएँ तो दूर नहीं हुई हैं परन्तु आपके विश्वास से हम लोग वंदना करना स्वीकार करते हैं। गुरु की आज्ञा को पालन करने के लिए भीखणजी ने कुछ चालाकी से काम लिया था। भीखणजी ने सत्य के आधार पर नहीं परन्तु अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से और झूठ का आश्रय लेकर श्रावकों को वंदना करने के लिए राजी किया था। इस प्रकार भीखणजी आत्म वंचना का जहर पी गये। गुरु और साधु

आत्म-वंचना का विष—

पद की मर्यादा की रक्षा के लिए भीखणजी ने श्रावकों के सत्य विचारों को गलत प्रमाणित किया और आगम विरुद्ध आचार का मंडन किया !

आत्म-साक्षात्कार की प्यास—

इस घटना के कुछ ही बाद भीखणजी को भीषण ज्वर का प्रकोप हो आया। जैसे वह विष भीतर न टिक कर बाहर निकल रहा हो। भीखणजी के विचारों में तुमुल संघर्ष हुआ। एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हुई। आत्म-वञ्चना के पाप से उनका हृदय कांपने लगा। उन्हें तीव्र प्रायश्चित और आत्म ग्लानि का अनुभव हुआ। उन्होंने विचारा मैंने कैसा अनर्थ किया ! मैंने सत्य को झूठ प्रमाणित किया ! यदि इसी समय मेरी मृत्यु हो तो मेरी कैसी दुर्गति हो ! ऐसी अपूर्व भावना को भाते हुए उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की: यदि मैं इस रोग से मुक्त हुआ तो अवश्य पक्षपात रहित होकर सच्चे मार्ग का अनुसरण करूँगा, जिनोक्त सच्चे सिद्धान्तों को अंगीकार कर उनके अनुसार आचरण करने में किसी की खातिर नहीं करूँगा। इस प्रकार दिव्य आन्तरिक प्रकाश से उनका हृदय जगमगा उठा और यह प्रकाश उनके जीवन को अन्त तक आलोकित करता रहा।

विपत्ति में जहाँ पापी मनुष्य हाय तोबा करता है वहाँ एक सच्चा मुमुक्षु पुरुष अपनी आत्मा की रक्षा में लगता है। ज्यों-ज्यों शारीरिक दुःखों का वेग बढ़ता है त्यों-त्यों उसके हृदय की वृत्तियों की अन्तर्मुखता भी बढ़ती जाती है और उसकी आत्मा

अधिकाधिक सत्य के दर्शन के लिए दौड़ती है। स्वामीजी जो विचार निरोगावस्था में नहीं कर सके वे विचार रोगावस्था में उनके हृदय में उठे। सांसारिक प्राणी की दृष्टि जहाँ मिथ्या आत्म सम्मान, बाह्य सुख और प्रतिष्ठा की खोज करती रहती है वहाँ मुमुक्षु की दृष्टि अन्तर की ओर होती है। मानापमान के सवाल में वह कभी पड़ भी जाता है तो भी मुमुक्षु को उससे निकलते देर नहीं लगती। भीखणजी के साथ भी ऐसा ही हुआ। वे आन्तरिक मुमुक्षु थे।

दुधारी तलवार—

भीखणजी को यह प्रगट मालूम देने लगा कि उनका पक्ष मिथ्या है और श्रावकों का पक्ष सत्य है फिर भी वे अधीर न हुए। आत्मार्थी फूंक-फूंक कर चलता है। वह अधीरज को महान पाप समझता है। वह अपने विचारों को एक बार नहीं परन्तु बार-बार सत्य की कसौटी पर कसता है और जब जरा भी सन्देह नहीं रह जाता तब जो अनुभव में आता है उसे प्रगट करता है। स्वामीजी ने भी अन्तिम निर्णय देने के लिए इसी मार्ग का अवलम्बन किया। उन्होंने धीर चित से दो बार सूत्रों का अध्ययन किया। गुरु की पक्षपात कर झूठ को सत्य प्रमाणित करना जहाँ परभव में महान दुःख का कारण होता वहाँ गुरु के प्रति भी कोई अन्याय होने से आत्मिक दुर्गति होने का कारण था। इस दुधारी तलवार से बचने के लिए आगम दोहन ही एक मात्र उपाय था। इस दोहन से

जब उन्हें ठीक निश्चय हो गया कि वे मिथ्या हैं तब श्रा
समक्ष उन्होंने अपनी गल्ती स्वीकार करते हुए उनकी म
सत्य है और आगम का आधार रखती है यह घोषित वि

श्रीमद् भीखणजी ने जिनोक्त मार्ग अंगीकार क

अपूर्व विनय—
प्रतिज्ञा की थी पर इससे पाठक
समझें कि उन्होंने आचार्य श्री रुघन
के शिष्य न रहने की ही ठान ली थी और किसी नय
के प्रवर्तक ही वे बनना चाहते थे। जहाँ सच्चा मा
वहाँ गुरु रूप में या शिष्य रूप में रहना उनके लिए समान
आत्म-कल्याण का प्रश्न ही उनके सामने प्रमुख था इ
शिष्य रह कर भी वे इसे साध सके तो उन्हें कोई आप
थी। इसीलिए आचार्य श्री रुघनाथजी के पक्ष को गलत सम
पर उन्होंने उसी समय उनसे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ ि
बल्कि उलटा उन्होंने यह विचार किया कि आचार्य मह
से मिल कर शास्त्रीय आलोचन करूंगा और सारे स
को हर उपाय से शुद्ध मार्ग पर लाने का प्रयत्न क
उनके न मानने पर वे क्या करेंगे इसका निश्चय वे क
थे परन्तु इस निश्चय को वे तभी काम में लाना चाहते
कि आचार्य महाराज को समझने का पूरा अवकाश दे वे
भी वे सत्मार्ग पर न आते। इस समय भीखणजी ने
विनय और धीरज का परिचय दिया वह अवश्य ही
मुमुक्षुता, आन्तरिक वैराग्य और धर्म भावना का द्योतक

चातुर्मास समाप्त होने पर श्रीमद् भीखणजी ने राजनगर से विहार किया। उन्होंने अपने साथ जो चार और साधु थे उनको अपनी मान्यताओं को अच्छी तरह समझाया। वास्तविक साधु आचार और विचार की बातें उनको बतलाई। यह सुन कर सभी साधु हर्षित हुए और भीखणजी के विचारों को सत्य पर अवलम्बित समझा। भीखणजी राजनगर से विहार कर सोजत की ओर आ रहे थे। रास्ते में छोटे-छोटे गांव पड़ते थे, इस लिए साधुओं के दो दल कर दिए एक दल में :भाणजी थे। भीखणजी ने वीरभाणजी को समझा दिया कि यदि वे रुघनाथजी के पास पहिले पहुँचे तो वहां इस य की कोई चर्चा न करें क्योंकि यदि पहिले ही बात सुन कर पात हो गया तो समझाने में विशेष कठिनाई होगी। मैं : जाकर सब बातें विनय पूर्वक उनके सामने रखूंगा और ई सत्य मार्ग पर लाने की चेष्टा करूंगा। घटना चक्र से भाणजी ही पहिले सोजत पहुँचे। उस समय रुघनाथजी वहीं वीरभाणजी ने वन्दना की। आचार्य रुघनाथजी ने पूछा वकों की शकाएँ दूर हुई या नहीं। वीरभाणजी ने उत्तर या—'श्रावकों के कोई शंका होती तब न दूर होती उन्होंने तो बातों का सच्चा भेद पा लिया है। हम लोग आधाकर्मी हार करते हैं। एक ही जगह से रोज-रोज गोचरी करते हैं, त्र, पात्रादि उपादानों के बंधे हुए परिमाण का उल्लंघन करते अभिभावकों की आज्ञा बिना ही दीक्षा दे डालते हैं; हर

किसी को प्रव्रजित कर लेते हैं, इस तरह अनेक दोषों का
सेवन करते हैं और केवल सेवन ही नहीं परन्तु उनको
भी ठहराते हैं। श्रावक सत्य ही कहते हैं उनकी शंकाएँ
नहीं हैं।' यह सुन कर रुघनाथजी स्तम्भित हो गये।
कहा—यह क्या कहते हो? वीरभाणजी ने कहा—मैं
कहता हूँ। मैंने जो कहा यह तो नमूना मात्र है, पूरी
भीखणजी के आने से ही मालूम होगी। इस तरह धी
होने से वीरभाणजी ने सारी बात कह डाली। भी
इस घटना के बाद पहुँचे। आते ही उन्होंने आचार्य म
रुघनाथजी को वन्दन नमस्कार किया परन्तु
भीखणजी से रुख न जोड़ी और न उनका वन्दन न
स्वीकार किया। यह देख कर श्रीमद् भीखणजी समम
कि हो-न-हो वीरभाणजी ने पहले ही सारी बात
है। भीखणजी ने इस प्रकार उदासीनता का कारण
तब उन्होंने उत्तर दिया—'तुम्हारे मन में शकाएँ पड़ ग
तुम्हारा और हमारा दिल नहीं मिल सकता। आज से
और तुम्हारा आहार भी एक साथ नहीं होगा।'
भीखणजी ने मन में विचार किया हममें और इनमें
ही समकित नहीं है परन्तु अभी बहस करना निरर्थक है।
ये सोचते हों कि मैं हर हालत में इनसे अलग होना चाह
और इन्हें गुरु नहीं मानना चाहता। इसलिए उचित
मैं उनकी इस धारणा को दूर कर उनके हृदय में विश्वास

करूँ कि मेरे विचार ऐसे नहीं हैं। मुझे शिष्य रूप में रहना अभीष्ट है बशर्ते कि सन्मार्ग के अनुसरण में कोई रुकावट न हो। यह सोच कर उन्होंने आचार्य श्री रुघनाथजी से कहा—'मेरी शकाओं को दूर कीजिए। मुझे प्रायश्चित्त देकर भीतर लीजिए,' इस तरह आचार्य महोदय की व्यर्थ आशंका को दूर कर मामिल आहार किया।

गुरु से चर्चा—

इसके बाद सुअवसर देख कर श्रीमद् भीखणजी ने आचार्य महाराज के साथ विनम्रता पूर्वक आलोचना शुरू की। उनका कहना था कि हमलोगों ने आत्मकल्याण के लिए ही घरबार छोड़ा है अतः झूठी पक्षपात छोड़ कर सच्चे मार्ग को ग्रहण करना चाहिए। हमें शास्त्रीय वचनों को प्रमाण मान कर मिथ्या पक्ष न रखना चाहिए। पूजा प्रशंसा तो कई बार मिल चुकी है, पर सच्चा मार्ग मिलना बहुत ही कठिन है, अतः सच्चे मार्ग को प्राप्त करने में इन बातों को नगण्य समझना चाहिये। आपको इस सम्बन्ध में सन्देह नहीं रखना चाहिए कि यदि आपने शुद्ध जैन मार्ग को अङ्गीकार किया तो मेरे लिए आप अब भी पूज्य ही रहेंगे। आप पुण्य-पाप का मेल मानते हैं, एक ही काम में पुण्य और पाप दोनों समझते हैं यह ठीक नहीं है। अशुभ योग से पाप का बन्ध होता है और शुभयोग से पुण्य का संचार होता है परन्तु ऐसा कौन सा योग है जिससे एक ही साथ पुण्य और पाप दोनों का संचार होता हो ? अतः आप अपनी पकड़ को

छोड़ कर सच्चे मार्ग को ग्रहण कीजिए। परन्तु आचार्य रुघनाथजी पर भीखणजी की इन बातों का कोई असर नहीं पड़ा। उल्टे वे अधिक रुष्ट हो गए। भीखणजी ने सोचा कि उत्तेजना करने से काम नहीं होगा जिस को दूर करने के लिए धीरज से काम लेना होगा। धीरज देख कर फिर उन्होंने प्रार्थना की कि इस बार चातुर्मास एक साथ किया जाय जिससे कि सब बातों का निर्णय किया जा सके परन्तु आचार्य महाराज ऐसा करने के लिए राजी नहीं हुए।

अंतिम प्रयत्न—

इसके बाद श्रीमद् भीखणजी बगड़ी में फिर आचार्य से मिले और फिर नम्र कर सत्य मार्ग पर आने का अनुरोध किया परन्तु आचार्य रुघनाथजी ने एक न सुनी। अब भीखणजी को साफ-साफ मालूम हो गया कि आचार्य महाराज समझाए नहीं समझ सकते अतः उन्होंने सोचा कि अब मुझे अपनी ही चिन्ता करनी चाहिए। यह सोच कर स्वामीजी ने आचार्य महाराज से सम्बन्ध तोड़ दिया। बगड़ी शहर में उनका संग छोड़ कर श्रीमद् भीखणजी ने अलग विहार कर दिया।

प्रभु के पथ पर—

इस प्रकार आचार्य श्री रुघनाथजी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर श्रीमद् भीखणजी ने अपने लिए विपत्तियों का पहाड़ खड़ा कर लिया। उस समय आचार्य रुघनाथजी एक प्रतिष्ठित आचार्य समझे जाते थे। उनके अनुयायियों की संख्या बहुत थी। श्रीमद् भीखणजी

के अलग होते ही आचार्य रुघनाथजी ने उनका घोर विरोध
करना शुरू किया। परन्तु भीखणजी इन सबसे विचलित
होनेवाले न थे। श्रीमद् भीखणजी को भयभीत करने के लि
तथा उनको फिरसे स्थानक में लौट आने को बाध्य करने
लिए शहर में सेवक के द्वारा ढिंढोरा पिटवा दिया गया कि को
भी भीखणजी को उतरने के लिए स्थान न दे। कोई जान सु
कर भीखणजी को उतरने के लिए स्थान देगा उसको सर्व सं
की आण है। भीखणजी इस विरोध से तनिक भी विचलित
हुए। सिंह की तरह अपने निश्चय पर डटे रहे। विचार किय
यदि इस विपत्ति से घबड़ा कर मैं फिर स्थानक में चला गय
तो फिर पुराने जाल में फँस जाऊँगा और फिर उससे निकलन
भी सरल न होगा यह सोच कर भविष्य की कठिनाइयों
तनिक भी चिन्ता न करते हुए उन्होंने बगड़ी शहर
का विचार ठान लिया। विहार कर जब बगड़ी शहर के
द्वार के समीप आए तो बहुत जोरों से आंधी चलने
विवेकी भीखणजी ने उसी समय विहार
जोर की हवा बहने के समय विहार करना
पास की जैतसिंहजी की छत्रियों में ठहरे।

जब आचार्य रुघनाथजी को यह मालूम
को लेकर वे वहां आए
से जोरों की चर्चा हुई।

आज्ञा का धागा टूटा—

नहीं हो सकता, तुम्हें जिद छोड़ हमारे साथ आ जाना चाहिए। भीखणजी ने जवाब दिया कि पंचम आरा अवश्य है फिर भी धर्म में परिवर्तन नहीं हुआ है। इस आरे में भी हम उसको उसी सम्पूर्णता के साथ पाल सकते हैं जिस सम्पूर्णता के साथ वह पहिले पाला जाता था। आरे के बहाने को सामने रखकर शिथिलाचार का पोषण नहीं किया जा सकता। यदि पहिले आरों में शिथिलाचार बुरा और निन्द्य था तो अब भी वह वैसा ही है। मैं तो प्रभु आज्ञा को शिरोधार्य कर शुद्ध संयम को पालूँगा। यह सुन कर आचार्य रुघनाथजी की निराशा का ठिकाना न रहा। उनकी आशा का अन्तिम धागा भी टूट गया। भीखणजी उनके प्रिय शिष्य थे। उनमें असाधारण विद्वता और प्रतिभा थी। ऐसे साधु का संघ में होना आचार्य रुघनाथजी के लिए गौरव का विषय था। भीखणजी के आशाशून्य उत्तर को सुन कर आचार्य रुघनाथ जी की आँखों में आँसू आ निकले। यह देख कर उदयभाणजी ने कहा 'आप एक टोले के नायक हैं आपको ऐसा नहीं करना चाहिए'। आचार्य रुघनाथजी ने कहा—'किसी का एक जाता है तो भी उसे अपार फिकर होता है—यहाँ तो एक साथ पाँच जा रहे हैं।'

आचार्य रुघनाथजी के इस मोह को देख कर भी भीखणजी

डिगे नहीं। उन्होंने सोचा जिस दिन मैंने घर छोड़ा था उस दिन मेरी मा ने भी स्नेह के आंसू बहाए थे परन्तु मैंने उस दिन उन आंसुओं की परवाह न कर घरबार त्याग दिया तो अब इन आंसुओं की कीमत ही क्या है ? यदि मैं इन के साथ रहूँ तो मुझे परभव में विशेष रोना पड़ेगा। यह सोच कर भीखणजी दृढ़ चित्त रहे !

अब आचार्य रुघनाथजी के क्रोध का पारवार न रहा।

आगे तू पीछे मैं—

भीखणजी की इस दृढ़ता से, अपने को एक टोले का अधिनायक समझने वाले, आचार्य के अभिमान को गहरा धक्का लगा। उन्हें क्रोध होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने भीखणजी से कहा 'अच्छा तो अब तुम देखना, तुम्हारे कहीं भी पैर न जमने पाएँगे। तुम कहाँ जाओगे ? तुम जहाँ जाओगे वहीं तुम्हारे पीछे मैं रहूँगा।'

भीखणजी ने आचार्य रुघनाथजी के इन क्रुद्ध वचनों का बड़ी ही शान्ति से जवाब दिया—'मुझे तो परिषह सहने ही हैं। इनके डर से मैं भयभीत नहीं हो सकता।—यह जीवन तो क्षण-भंगुर है।'

इसके पश्चात् भीखणजी ने निर्भयता के साथ बगड़ी से विहार

फिर चर्चाएँ—

कर दिया। आचार्य रुघनाथजी ने भी उनके पीछे पीछे विहार किया। बरलू में फिर गहरी चर्चा

भीखणजी ने जवाब में कहा 'दुषम काल में सम्यक् चारित्र पालन करने के उद्यम में कमी आने के बदले और अधिक बल और पुरुषार्थ आना चाहिए। भगवान ने जो संयम आदि को दुष्करकाल बतलाया है उसका अर्थ यह नहीं है कि इस काल में कोई सम्यक् रूप से धर्म का पालन ही न कर सकेगा पर उसका अर्थ यह है कि चारित्र पालन में नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक कठिनाइयाँ रहेंगी इस लिए चारित्र पालन के लिये बहुत अधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी। भगवान ने तो साफ कहा है: 'जो शिथिलाचारी और पुरुषार्थ हीन होंगे वे ही कहेंगे कि इस काल में शुद्ध संयम नहीं पाला जा सकता—बल संघ-यण हीन होने से पूरा आचार नहीं पाला जा सकता।' इस तरह भगवान ने आगे ही यह बात कह दी है कि वेषधारी ही ऐसे बहाने का सहारा लेंगे। इस लिए समय का दोष बतला कर शिथिलाचार का पोषण नहीं किया जा सकता'। यह सुन कर आचार्य रुघनाथजी को महान कष्ट हुआ फिर भी बात सत्य होने से इसका प्रत्युत्तर नहीं दे सके।

फिर उन्होंने एक दूसरी चर्चा छेड़ी। उन्होंने कहा : 'केवल दो घड़ी शुभ ध्यान करने और शुद्ध चारित्र पालन से ही केवल ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस संघ में रहते हुए भी यह किया जा सकता है अतः बाहर होने की आवश्यकता नहीं।'

भीखणजी ने कहा—'साधु जीवन केवल घड़ी दो घड़ी शुद्ध संयम पालने के लिये नहीं है, परन्तु यह निरन्तर साधना है।

चारित्र की साधना में सचा साधु एक पल मात्र भी ढीला नहीं पड़ सकता। दो घड़ी शुभ ध्यान और चारित्र से केवल ज्ञान प्राप्त होने की बात अमुक अपेक्षा से है, वह सर्वत्र लागू नहीं हो सकती। यदि केवल ज्ञान पाना इतना सरल हो तब तो मैं भी श्वासोश्वास रोक कर दो घड़ी तक शुभ ध्यान कर सकता हूँ। प्रभव और शय्यंभव को केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ तब क्या उन्होंने दो घड़ी भी साधुपना नहीं पाला था? भगवान महावीर के १४ हजार साधु शिष्यों में केवल सात सौ ही केवली थे, तब तो आपके कथनानुसार यही हुआ कि उन्होंने दो घड़ी के लिए भी शुद्ध संयम नहीं पाला था। भगवान महावीर ने १२ वर्ष १३ पक्ष तक मौन ध्यान किया परन्तु केवल ज्ञान तो उन्हें इस दीर्घ तपस्या के बाद ही प्राप्त हुआ। क्या आप कह सकते हैं कि इस अवधि में दो घड़ी के लिए भी उन्होंने शुभ ध्यान नहीं ध्याया। इस लिए दो घड़ी में केवल ज्ञान प्राप्त करने की बात अमुक अपेक्षा से है। अमुक अपेक्षा से केवल दो घड़ी में केवल ज्ञान प्राप्त हो सकता है इसलिए यह जरूरी नहीं कि केवल दो घड़ी को इसके लिए रक्खा लिया जाय और शेष जीवन को शिथिलाचार में बिता दिया जाय। साधु को जीवन के प्रत्येक पल में जागरूक रहने की आवश्यकता है। उसके जीवन का प्रत्येक पल संयम और तपस्या की निरन्तरता से सजीव रहना चाहिए। खाने-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते— साधु के प्रत्येक कार्य में जागृति चाहिए तभी उसके नए कर्मों का

संचार रुकेगा,' इस तरह अनेक प्रकार की चर्चाएँ हुई प
आचार्य रुघनाथजी के हृदय पर कोई असर न पड़ा।

आचार्य रुघनाथजी के जयमलजी नामक एक चाचा थे
गले तक डूबा— भी एक टोले के नायक थे। वे प्रकृति के बड़े
सरल और भद्र थे। वे भीखणजी के पास अ
भीखणजी ने उनको सब बातें समझाई। जयमलजी भीख
के सिद्धांतों की सचाई से प्रभावित हुए और उन्होंने भीख
के साथ होने का निश्चय किया। यह बात जब आचार्य
नाथजी के कानों तक पहुँची तो उन्होंने जयमलजी को भ
दिया। आप भीखणजी के साथ मिल जायंगे तो आपका
अलग टोला न रहेगा। आपके साधु भीखणजी के साधु
जायंगे। इससे भीखणजी का काम बन जायगा परन्तु आप
कोई नाम नहीं रहेगा! इस तरह की बातों को सुन कर ज
मलजी के विचार फिर गये। भीखणजी के साथ मिलने
विचार छोड़ दिया। उन्होंने भीखणजी से अपनी अस
र्थता को प्रगट करते हुए साफ शब्दों में कहा था—"भीखण
मैं तो गले तक डूब चुका हूँ, आप शुद्ध साधु जीवन का पा
कीजिए हमारे लिए तो अभी यह अशक्य ही है।' इस त
आचार्य रुघनाथजी नाना प्रकार की बाधाएँ भीखणजी के म
में उपस्थित करते थे परन्तु भीखणजी जरा भी विच
नहीं हुए।

अब भीखणजी ने आत्मोद्धार के लिए फिर से दीक्षा लेने का विचार किया और इसके लिए वे दृढ़ता से तैयारी करने लगे।

ऋषि भारीमलजी साथ में—

भीखणजी के साथ भारीमलजी नाम के एक संत और इनके पिता कृष्णोजी भी थे। ये दोनों ही आचार्य रुघनाथजी के टोले में जब भीखणजी थे, तो उनके द्वारा प्रव्रजित किए गये थे। कृष्णोजी उग्र प्रकृति के थे। उनकी प्रकृति साधु जीवन के सर्वथा विपरीत थी। यह देख कर भीखणजी ने भारीमलजी को कहा कि तुम्हारे पिता साधु बनने के योग्य नहीं हैं, मैं नई दीक्षा लेने का विचार करता हूँ। हम लोगों का जोरों से विरोध होने की संभावना है। आहार पानी की कठिनाई पग-पग पर होगी। इन कठिनाइयों का सहने की हिम्मत कृष्णोजी में नहीं मालूम देती। साधु जीवन में वाणी के संयम की भी विशेष आवश्यकता है, इसका भी कृष्णोजी में अभाव है। इसलिए तुम्हारी क्या इच्छा है—मेरे साथ रहना चाहते हो या उनके पास ?

भारीमलजी ने दस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी। चार वर्ष तक वे आचार्य रुघनाथजी के टोले में थे। इस समय उनकी अवस्था केवल १४ वर्ष की थी। बालक भारीमलजी ने दृढ़ता के साथ कहा 'मैं आपके साथ ही रहूँगा। मुझे पिता से कोई सम्पर्क नहीं है। मैं तो संयम पालने का इच्छुक हूँ, मुझे आपका विश्वास है। मैं आपके साथ ही रहूँगा।' फिर भीखणजी ने कृष्णोजी से कहा—'हमारा संयम लेने का विचार है। चारित्र-

संचार रुकेगा,' इस तरह अनेक प्रकार की चर्चाएँ हुईं परन्तु आचार्य रुघनाथजी के हृदय पर कोई असर न पड़ा।

गले तक डूबा—

आचार्य रुघनाथजी के जयमलजी नामक एक चाचा थे। वे भी एक टोले के नायक थे। वे प्रकृति के बड़े ही सरल और भद्र थे। वे भीखणजी के पास आए। भीखणजी ने उनको सब बातें समझाईं। जयमलजी भीखणजी के सिद्धांतों की सचाई से प्रभावित हुए और उन्हों ने भीखणजी के साथ होने का निश्चय किया। यह बात जब आचार्य रुघनाथजी के कानों तक पहुँची तो उन्होंने जयमलजी को भड़का दिया। आप भीखणजी के साथ मिल जायंगे तो आपका कोई अलग टोला न रहेगा। आपके साधु भीखणजी के साधु माने जायंगे। इससे भीखणजी का काम बन जायगा परन्तु आपका कोई नाम नहीं रहेगा। इस तरह की बातों को सुन कर जयमलजी के विचार फिर गये। भीखणजी के साथ मिलने का विचार छोड़ दिया। उन्होंने भीखणजी से अपनी असमर्थता को प्रगट करते हुए साफ शब्दों में कहा था—'भीखणजी! मैं तो गले तक डूब चुका हूँ, आप शुद्ध साधु जीवन का पालन कीजिए हमारे लिए तो अभी यह अशक्य ही है।' इस तरह आचार्य रुघनाथजी नाना प्रकार की बाधाएँ भीखणजी के मार्ग में उपस्थित करते थे परन्तु भीखणजी जरा भी विचलित नहीं हुए।

अब भीखणजी ने आत्मोद्धार के लिए फिर से दीक्षा लेने का विचार किया और इसके लिए वे दृढ़ता से तैयारी करने लगे।

ऋषि भारीमलजी साथ में—

भीखणजी के साथ भारीमलजी नाम के एक संत और इनके पिता कृष्णोजी भी थे। ये दोनों ही आचार्य रुघनाथजी के टोले में जब भीखणजी थे, तो उनके द्वारा प्रव्रजित किए गये थे। कृष्णोजी उग्र प्रकृति के थे। उनकी प्रकृति साधु जीवन के सर्वथा विपरीत थी। यह देख कर भीखणजी ने भारीमलजी को कहा कि तुम्हारे पिता साधु बनने के योग्य नहीं हैं, मैं नई दीक्षा लेने का विचार करता हूँ। हम लोगों का जोरों से विरोध होने की संभावना है। आहार पानी की कठिनाई पग-पग पर होगी। इन कठिनाइयों का सहने की हिम्मत कृष्णोजी में नहीं मालूम देती। साधु जीवन में वाणी के संयम की भी विशेष आवश्यकता है, इसका भी कृष्णोजी में अभाव है। इसलिए तुम्हारी क्या इच्छा है—मेरे साथ रहना चाहते हो या उनके पास ?

भारीमलजी ने दस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी। चार वर्ष तक वे आचार्य रुघनाथजी के टोले में थे। इस समय उनकी अवस्था केवल १४ वर्ष की थी। बालक भारीमलजी ने दृढ़ता के साथ कहा 'मैं आपके साथ ही रहूँगा। मुझे पिता से कोई सम्पर्क नहीं है। मैं तो संयम पालने का इच्छुक हूँ, मुझे आपका विश्वास है। मैं आपके साथ ही रहूँगा।' फिर भीखणजी ने कृष्णोजी से कहा—'हमारा संयम लेने का विचार है। चारित्र-

संसार रहेगा,' इस तरह अनेक प्रकार की बातें हुईं परन्तु आचार्य रुघनाथजी के हृदय पर कोई असर न पड़ा।

गले तक डूबा—

आचार्य रुघनाथजी के जयमलजी नामक एक भाणजा थे। वे भी एक टोले के नायक थे। वे प्रकृति के बड़े ही सरल और भद्र थे। वे भीखणजी के पास आए। भीखणजी ने उनको सब बातें समझाईं। जयमलजी भीखणजी के सिद्धांतों की सचाई से प्रभावित हुए और उन्होंने भीखणजी के साथ होने का निश्चय किया। यह बात जब आचार्य रुघनाथजी के कानों तक पहुँची तो उन्होंने जयमलजी को भड़का दिया। आप भीखणजी के साथ मिल जायेंगे तो आपका कोई अलग टोला न रहेगा। आपके साधु भीखणजी के साधु माने जायेंगे। इससे भीखणजी का काम बन जायगा परन्तु आपका कोई नाम नहीं रहेगा। इस तरह की बातों को सुन कर जयमलजी के विचार फिर गये। भीखणजी के साथ मिलने का विचार छोड़ दिया। उन्होंने भीखणजी से अपनी असमर्थता को प्रगट करते हुए साफ शब्दों में कहा था—'भीखणजी! मैं तो गले तक डूब चुका हूँ, आप शुद्ध साधु जीवन का पालन कीजिए हमारे लिए तो अभी वह अशक्य ही है।' इस तरह आचार्य रुघनाथजी नाना प्रकार की बाधाएँ भीखणजी के मार्ग में उपस्थित करते थे परन्तु भीखणजी जरा भी विचलित नहीं हुए।

अब भीखणजी ने आत्मोद्धार के लिए फिर से दीक्षा लेने का विचार किया और इसके लिए वे दृढ़ता से तैयारी करने लगे।

ऋषि भारीमलजी साथ में—

भीखणजी के साथ भारीमलजी नाम के एक संत और इनके पिता कृष्णोजी भी थे। ये दोनों ही आचार्य रुघनाथजी के टोल में जब भीखणजी थे, तो उनके द्वारा प्रव्रजित किए गये थे। कृष्णोजी उग्र प्रकृति के थे। उनकी प्रकृति साधु जीवन के सर्वथा विपरीत थी। यह देख कर भीखणजी ने भारीमलजी को कहा कि तुम्हारे पिता साधु बनने के योग्य नहीं हैं, मैं नई दीक्षा लेने का विचार करता हूं। हम लोगों का जोरों से विरोध होने की संभावना है। आहार पानी की कठिनाई पग-पग पर होगी। इन कठिनाइयों का सहने की हिम्मत कृष्णोजी में नहीं मालूम देती। साधु जीवन में वाणी के संयम की भी विशेष आवश्यकता है, इसका भी कृष्णोजी में अभाव है। इसलिए तुम्हारी क्या इच्छा है—मेरे साथ रहना चाहते हो या उनके पास ?

भारीमलजी ने दस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी। चार वर्ष तक वे आचार्य रुघनाथजी के टोले में थे। इस समय उनकी अवस्था केवल १४ वर्ष की थी। बालक भारीमलजी ने दृढ़ता के साथ कहा 'मैं आपके साथ ही रहूंगा। मुझे पिता से कोई सम्पर्क नहीं है। मैं तो संयम पालने का इच्छुक हूँ, मुझे आपका विश्वास है। मैं आपके साथ ही रहूँगा।' फिर भीखणजी ने कृष्णोजी से कहा—'हमारा संयम लेने का विचार है। चारित्र-

पालन बहुत मुश्किल है अतः हम आपको साथ नहीं रख सक
कृष्णोजी ने कहा—यदि मुझे साथ नहीं रखते तो मेरे पुत्र को
मुझे सौंप दीजिए। उसको आप नहीं ले जा सकते। भीखण
ने कहा यह आप का पुत्र है, मैं मना नहीं करता—आप इसे अ
साथ ले जा सकते हैं मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है।
कृष्णोजी भारीमल्ल को लेकर दूसरी जगह चले गये। भारीमल्ल
पिता के इस कार्य से असन्तुष्ट थे। उन्होंने इस बात की प्रति
कर ली कि मैं जीवन पर्यन्त कृष्णोजी के हाथ का आहार पा
नहीं लूँगा। इस तरह अनसन करते हुए दो दिन निकल गये पर
भारीमल्लजी पर्वत की तरह दृढ़ रहे। तब कृष्णोजी भी हतोत्स
हो गये और भारीमल्लजी को फिर भीखणजी के पास ला
छोड़ दिया और कहा—'यह आप ही से राजी है, मुझसे तो
जरा भी प्रेम नहीं करता। इसको आहार पानी लाकर दीजि
जिससे यह भोजन करे। इसका पूरा यत्न रखिएगा और अ
संयम ले उसके पहिले मेरा भी कहीं ठिकाना लगा दें'।
सुन कर भीखणजी ने कृष्णोजी को आचार्य जयमलजी के पा
भेज दिया।

विहार करते-करते भीखणजी जोधपुर पहुँचे। यहाँ पहुँचते

पंथ संज्ञा— पहुँचते उनके साथ तेरह साधु हो गये। इसमें पाँ
आचार्य रुघनाथजी की सम्प्रदाय के, छः जयमल
की सम्प्रदाय के तथा दो अन्य सम्प्रदाय के थे। इन साधुओं
टोकरजी, हरनाथजी, भारीमल्लजी, वीरभाणजी आदि सामि

थे। इस समय तक १३ श्रावक भी भीखणजी की पक्ष में हो गये। जोधपुर के बाजार में एक खाली दुकान में श्रावकों ने सामायिक तथा पोषधादि किया। इसी समय जोधपुर के दिवान फतेहचन्दजी सिंघी का बाजार में से जाना हुआ। साधुओं के निर्दिष्ट स्थान को छोड़ बाजार के चोहटे में श्रावकों को सामायिक, पौषध आदि धार्मिक क्रियाएँ करते देख कर उन्हें आश्चर्य हुआ। उनके प्रश्न करने पर श्रावकों ने आचार्य रुघनाथजी से भीखणजी के अलग होने की सारी बात कह सुनाई तथा जैन शास्त्रों की दृष्टि से अपने निमित्त बनाए मकानों में रहना साधु के लिए शास्त्र-सम्मत नहीं है यह भी बताया। फतेहचन्दजी के पूछने पर यह भी बतलाया कि भीखणजी के मतानुयायी अभी तक १३ ही साधु हैं और श्रावक भी १३ ही हैं। यह सुन कर फतेचन्दजी ने कहा—"अच्छा जोग मिला है—तेरह ही सन्त हैं और तेरह ही श्रावक ? सिंघीजी के पास ही एक सेवक जाति का कवि खड़ा था। वह यह सब वार्तालाप बड़ी दिलचस्पी के साथ सुन रहा था। उसने तुरन्त ही एक सवैया जोड़ सुनाया और तेरह ही साधु और तेरह ही श्रावकों के आश्चर्यकारी संयोग को देख कर इनका नामकरण 'तेरापंथी' कर दिया।

स्वामीजी की प्रत्युत्पन्न बुद्धि बहुत ही आश्चर्यकारी थी। उस सेवक कवि के मुख से आकस्मिक इस 'तेरापन्थी' नामकरण को सुन कर स्वामीजी ने बहुत ही सुन्दर रूप से उसकी व्याख्या की—"हे प्रभु ! तेरा ही पन्थ हमें पसन्द आया है इसलिए हम

सबे साधुओं को चौमासा [illegible] दिया और [illegible] दी कि आषाढ़ सुदी पुनम [illegible] दीक्षा ले लें। इसके बाद भीखणजी ने मेवाड़ की ओर प्रस्थान किया और केलवे पधारे। वहां सम्वत् १८१७, मिति आषाढ़ सुदी, १५ के दिन अरिहन्त भगवान की आज्ञा ले अठारह ही पापों का त्याग कर दिया और सिद्धों की साक्षी से नव दीक्षा ली। अन्य साधुओं ने भी फिर से नई दीक्षाएँ लीं। इस तरह तेरह महा प्रव्रज्याएँ हुईं।

दीक्षा लेने के बाद केलवे में ही प्रथम चौमासा किया। यहीं पर आचार्य भीखणजी को अंधारी ओरी का कष्ट दायक उपसर्ग हुआ था। इस चौमासे में हरनाथजी, टोकरजी, और भारीमलजी ये तीन संत आचार्य भीखणजी के साथ थे।

चातुर्मास समाप्त होने पर सभी साधु एक जगह इकट्ठे हुए। बखतरामजी और गुलाबजी कालवादी हो गये और इसलिये शुरू से ही अलग हो गए। वीरभाण जी कई वर्षों तक आचार्य भीखणजी के मंत्री रूप में रहे परन्तु बहुत अधिक अविनयी होने से बाद में उन्हें दूर कर दिया गया। लिखमी चन्दजी, भारीमलजी, रूपचन्दजी और पेमजी भी बाद में निकल गये। केवल आचार्य भीखणजी, थिरपालजी, फतेहचन्दजी, टोकरजी, हरनाथजी, और भारीमालजी ये छः संत जीवन पर्यन्त एक साथ रहे और इनमें पारस्परिक खूब ही प्रेम रहा।

इस प्रकार मत की स्थापना तो हो गयी परन्तु आगे का म

महान भिक्षु—

मार्ग न था। मार्ग में विपत्तियों के पहा
पहाड़ खड़े थे। परन्तु आचार्य भीखणजी इन
से विचलित होने वाले न थे। उन्हें तो केवल आत्म-साक्षात्कार
ही प्यास थी और इसके लिए वे अपने प्राणों तक की होड़ ल
चुके थे। पूज्य स्वामी जीतमलजी ने ठीक ही कहा है 'मरण ध
शुद्ध मग लियो' अर्थात प्राण देने तक का निश्चय करके ही उन्
यह काम उठाया था। खाँड़े की धार पैनी थी फिर भी जी
और मरण को पर्याय मात्र समझने वाले के लिए उस पर चल
जरा भी कठिन न था। स्वामीजी को नए मत की स्थापना क
देख कर आचार्य रुघनाथजी के क्रोध का पारा और भी गर्म
गया। उन्होंने लोगों को नाना प्रकार से भड़काना शुरू किय
आचार्य भीखणजी को जगह-जगह में जमाली और गोशाले
उपमाएँ मिलने लगीं। कोई कहता 'यह निन्हव है इसका साथ म
करना' कोई कहता 'इन्होंने देवगुरु को उत्थाप दिया है, द
दान को उठा दिया है और जीव बचाने में अठारह पाप बतल
हैं।' इस तरह आचार्य भीखणजी जहाँ पहुँचते वहाँ विरोध
विरोध होता। कोई प्रश्न करने के बहाने और कोई दर्शन करने
बहाने आकर उनको खरी खोटी सुना जाता। इस तरह उन
अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। परन्तु आचार्य भीखण
क्षमा-शूर थे। उन्होंने बिना किसी के प्रति द्वेष भाव लाए, स
भाव पूर्ण सहनशक्ति के साथ इन सब यातनाओं को झेला

आचार्य रघनाथजी ने लोगों को यहाँ तक भड़का दिया था कि भीखणजी को उतरने तक के लिए स्थान नहीं मिलता था। चिकने चुपड़े आहार की तो बात ही क्या रूखा सूखा आहार भी भर पेट नहीं मिलता था। पीने के पानी के लिए भी कष्ट उठाना पड़ता था पर विघ्नबाधाओं से स्वामीजी तनिक भी नहीं घबराए—मार्गच्युत होने की बात तो दूर थी। स्वामीजी पर आई हुई इन्हीं विपत्तियों का वर्णन करते हुए श्रीमद् जयाचार्य ने लिखा है:—

> पंच वर्ष पहिछान रे, अन पण पूरो ना मिल्यो,
> बहुल पणे बच जाण रे, घी चोपड़ नो जिहां रह्यो।
> भारी गुण भिक्खु तणा, कह्या कठा लग जाय,
> मरणधार शुद्ध मग लियो, कमिय न राखी काय॥

इस तरह नाना प्रकार की कठिनाइयाँ एक दिन नहीं दो दिन नहीं परन्तु लगातार वर्षों तक आचार्य भीखणजी और उनके साथी साधुओं को सहनी पड़ी थी, पर स्वामीजी ने उनके सामने कभी मस्तक नहीं झुकाया।

इस प्रकार वे विपदाओं से लड़ते और दुःसह परिषहों को समभाव पूर्वक सहन करते जाते थे। भगवान ने सच्चे धर्म पर श्रद्धा होना महा दुर्लभ बतलाया है। वर्षों से आते हुए संस्कारों और विचारधारा को हटा कर नवीन और शुद्ध विचार

स्नेम हर्षक तपस्या और कष्ट सहन—

धारा को जनता के जीवन में उतारना कोई सरल कार्य नहीं है और खास कर उस समय जब कि लोगों में रूढ़ दर्शों की जड़ता जड़ जमाए हुए पड़ी हो और जहां विचार शक्ति के स्थान में केवल अंध शक्ति और स्थिति पालकता ही हो। आचार्य भीखणजी ने लोगों की अन्ध श्रद्धा और ज्ञान हीनता को देखकर विचार किया कि धर्म प्रचार होने का कोई रास्ता नहीं दीखता। लोग जैन धर्म से कोसों दूर पड़े हैं। जैन आचार और विचार का पूर्ण अभाव है। अधिकांश लोग गतानुगतिक हैं और सत्यासत्य का निर्णय विवेक बुद्धि से नहीं परन्तु वर्षों से चली आती विचार परम्परा से करते हैं। ऐसे वातावरण में धर्म प्रचार का प्रयत्न करना व्यर्थ है। इस प्रयत्न में समय और परिश्रम व्यर्थ न खो अब मुझे अपनी ही आत्मा के कल्याण के लिए सर्वतोभाव से लग जाना चाहिए। इस कठिन मार्ग में साधु साध्वियों का होना मुश्किल है अतः अब दूसरों को इस सच्चे मार्ग पर लाने की चेष्टा करना निरर्थक है। इस प्रकार विचार कर उन्होंने सब सन्तों के साथ एकान्तर उपवास करना आरम्भ कर दिया तथा धूप में आतापना लेनी शुरू की। सब सन्त चारों आहारों के त्याग पूर्वक उपवास करते और सूर्य की कड़ी धूप में तपश्चर्या करते। यह लोमहर्षक तपस्या महिनों तक चली। साधुओं के शरीर अस्थिपिंजर होने लगे परन्तु जीवन शुद्धि का यह यक्ष परोक्ष रूप से जीवन की अमरता बेली को हरा भरा कर रहा था। आचार्य भीखणजी और उनके सन्तों की यह कंपित करने वाली तपस्या मानो वही

दुर्मय युद्ध था जिसका वर्णन उत्तराध्ययन की इन गाथा में किया गया है:—

> जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
> एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जउ॥
> अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झउ।
> अप्पाणमेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥

आचार्य भीखणजी की इस लोमहर्षक तपस्या का प्रभाव धीरे-धीरे जनतापर पड़ता जाता था। अब लोगों ने समझा कि जो शुद्ध जीवन यापन के लिए अपने प्राणों तक को अपनी हथेली में रखता है, वह एक कितना बड़ा त्यागी और महान पुरुष है। आचार्य भीखणजी की निर्भीकता, उनकी त्याग और तपस्या लोगों की सहानुभूति उनकी ओर खींचने लगी। भोजन और पानी की कठिनाइयाँ उपस्थित कर जो आचार्य भीखणजी को डिगाना चाहते थे उनको उन्होंने यह पदार्थ पाठ सिखाया कि भूख और प्यास की कठिनाइयों से वे डिगनेवाले नहीं हैं। उनकी वह जरा भी परवाह नहीं करते। खाने-पीने की चीजों का तो वे और उनके साधु स्वेच्छा पूर्वक त्याग कर सकते हैं। उनका जीवन खाने-पीने के सुख के लिए नहीं है, परन्तु संयमी जीवन की कठिनाइयों को सहने के लिए। आचार्य भीखणजी की इस तपस्या से लोगों में श्रद्धा जागी। लोगों ने सोचा कम-से-कम उनकी बात तो सुननी

चाहिए। इस विचार से लोग उनके पास जाने लगे। आचार्य भीखणजी उनको जैन सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप बतलाते। आज्ञा किसमें है और अनाज्ञा किसमें है, व्रत क्या है और अव्रत क्या है, इसका विश्लेषण करते। इन बातों से लोग प्रभावित होते और उनकी बातों में सत्यता के दर्शन कर उनके अनुयायी बन जाते। इस तरह बहुत से विचारशील व्यक्तियों ने आचार्य भीखणजी के वचनामृत से शुद्ध श्रद्धा को प्राप्त कर धर्म के सच्चे स्वरूप को पहचाना।

तिरण तारण भिक्खु—

जैसा कि ऊपर एक जगह लिखा गया है, थिरपालजी और फते चन्दजी नामक दो सन्त आचार्य भीखणजी के साथ थे। दोनों ही बड़े तपस्वी, विचारवान और सरल प्रकृति के थे। जब आचार्य भीखणजी आचा रुघनाथजी के टोले में थे तो ये दोनों सन्त उनसे दीक्षा में बड़े थे यद्यपि श्रीमद् आचार्य भीखणजी अब आचार्य थे फिर भी उन्हें दीक्षा में इन्हीं को बड़ा रखा और उनका पूरा मान सम्म किया करते। उन्होंने आचार्य भीखणजी को इस प्रकार उग्र करते देख कर समझाया कि आप तपस्या द्वारा अपने श को इस तरह क्षीण न करें। आपके हाथों एक बड़े समुदाय कल्याण होना संभव है। आपकी बुद्धि असाधारण है। अ कल्याण के साथ आप दूसरों के कल्याण का भी पूरा सामर्थ्य र हैं। आपको यह तपस्या छोड़ कर जनता में धर्म प्रचार क का प्रयत्न करना चाहिए।

वयोवृद्ध साधुओं की इस परामर्श को आचार्य भीखणजी ने स्वीकार किया और इसके बाद से ही सिद्धान्त के प्रचार का कार्य विशेष रूप से करने लगे। स्वामीजी के धर्म-प्रचार और धर्मोद्धारक जीवन का सूत्रपात यहीं से समझना चाहिए। सूत्रीय आधार पर सिद्धान्त विषयों की ढालें लिख लिख कर वे उनके द्वारा सत् धर्म का प्रचार करने लगे। उन्होंने दान और दया पर तर्का-बाधित और प्रमाण पुरस्सर सुन्दर ढालें लिखीं, व्रत अव्रत के रहस्य को समझाया। नव तत्त्वों पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। श्रावक के व्रतों पर नया प्रकाश डाला। ब्रह्मचर्य के विषय पर महत्त्वपूर्ण ढालों की रचना की। इस प्रकार उन्होंने जनता के सामने अपनी सारी विचारधारा उपस्थित कर दी। साधु आचार पर ढालें रच कर शिथिलाचार को हटाने का प्रयत्न किया। अपने तथा अपने साधुओं में सच्चे जैनत्व को उतार कर जनता के सम्मुख सच्चे जैन साधुत्व का मुर्तिमान स्वरूप उपस्थित कर दिया।

इस तरह धीरे-धीरे स्वामीजी के मत का प्रचार होने लगा

आदर्शवादी भिक्खु— साधु श्रावक और श्राविकाओं की संख्या बढ़ने लगी। फिर भी कई वर्षों तक कोई साध्वी स्वामीजी के संघ में प्रवर्जित न हुई। इस पर किसी ने आक्षेप करते हुए कहा: 'स्वामीजी! आपके केवल तीन ही तीर्थ हैं —साधु, श्रावक और श्राविका। साध्वियाँ न होने से आपका यह तीर्थ रूपी मोदक देखने में खाँडा ही है।' स्वामीजी ने उत्तर

दिया—'मोदक थोड़ा आवश्यक है, फिर भी वह औगुणी का है अतः उसका स्वाद अनुपम है।' इसके थोड़े ही दिनों बाद स्वामीजी के संघ में तीन श्रमणियाँ प्रव्रजित हुईं। तीन महिलाएँ एक ही साथ स्वामीजी के पास दीक्षित होने के उद्देश्य से आईं। जैन सूत्रों के अनुसार कम-से-कम तीन साध्वियाँ एक साथ रहनी आवश्यक हैं अतः स्वामीजी ने विचार किया कि यदि प्रव्रज्या लेने के पश्चात् इनमें से एक भी साध्वी का किसी कारण से वियोग हुआ तो एक कठिक परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी और उस अवस्था में बाकी दो साध्वियों को संलेषणा करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जायगा। इस बात को स्वामीजी ने उन दीक्षार्थी बाइयों के सम्मुख रखा और दीक्षा लेने के पूर्व इस बात पर गंभीरता पूर्वक विचार कर लेने को कहा। तीनों ही ने इस बात को स्वीकार किया कि उनमें किसी एक का भी वियोग हुआ तो शेष संलेषणा कर अपने शरीर का त्याग करने के लिए तैयार रहेंगी। इसके बाद स्वामीजी ने उनको योग्य समझ प्रव्रजित किया। इन साध्वियों का नाम कुशलांजी, मटुजी और अजबूजी था। इस तरह अपने साधु सम्प्रदाय में जरा-सी भी कमजोरी को स्थान दिए बिना और शिथिलाचार को बिलकुल दूर करते हुए आचार्य भीखणजी निरन्तर जागरुकता और परम विवेक के साथ अपने मार्ग को दीपा रहे थे। अपने साधु साध्वियों की संख्या खूब अधिक हो इसकी ओर उनका जरा भी ध्यान न था। वे तो चाहते थे कि

साधु और साध्वियाँ चाहें कम ही रहें पर वे हों ऐसे जो आदर्श, चारित्र और संयममय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण जनता के सन्मुख उपस्थित कर सकें और मौका आवे तो इनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों का भी मोह न करें। स्वामीजी भगवान के प्रवचनों को ही अपने जीवन का दिशा यंत्र समझते थे और उनकी एक भी क्रिया ऐसी न होती थी जो इस यंत्र के अनुसार न हो। उनका विवेक हद दर्जे का था। प्रत्येक कार्य में वे आगे की सोचा करते थे। इसलिए उन्होंने साध्वियों के सम्मुख उनके भविष्य जीवन में आ सकने वाली संभावना को साफ शब्दों में प्रगट कर दिया था। केवल शुरू में ही नहीं परन्तु अन्त तक भगवान के बताए हुये मार्ग के अनुसार ही संघ का संचालन हो इसका उन्हें खूब ध्यान था।

स्वामजी का अन्तिम चातुर्मास शिरियारी में हुआ। उस समय स्वामीजी के साथ ६ सन्त और थे—(१) भारीमलजी (२) खेतसीजी (३) उदैरामजी (४) ऋषि रायचन्दजी (५) जीवोजी और (६) भगजी। ये सात ऋषि चाणोद से पीपाड़ तक विहार करते हुए सोजत, कँटालिया और बगड़ी होकर शिरियारी पधारे। यहीं सं० १८६० की भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को स्वामीजी का देहान्त हुआ था। अन्त समय तक स्वामीजी के हद दर्जे की आत्म-जागरूकता और आत्म-समाधि रही। यों तो उनकी भावनाएँ सदा ही निर्मल रहती थीं, परन्तु अन्त समय में उनकी निर्मलता

अदृष्ट का आभास और महा प्रस्थान की तैयारी-

दर्शन की वस्तु थी। उन्होंने मृत्यु को बड़ी प्रसन्नतापूर्वक झेला था। उस समय उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, आत्म-जागृति और सहजानन्द को देखते हुए उन्हें मृत्युञ्जय कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

स्वामीजी शिरियारी में पधारे थे उस समय तक उनके शरीर में कोई रोग नहीं था। वृद्ध होने पर भी उनकी इन्द्रियाँ कार्यकारी थीं। उनकी चाल तेज थी। उस समय तक वे बड़ा परिश्रम किया करते थे। रोज स्वयं गोचरी पधारा करते थे। धार्मिक चर्चा में विशेष भाग लेते थे। शिष्यों को लिख-लिख कर स्वयं आवश्यक सूत्र का अर्थ बताया करते। श्रावण सुदी ११ के बाद स्वामीजी के कुछ दस्त की शिकायत रहने लगी। दवा सेवन से कोई लाभ नहीं हुआ। पर्युषणपर्व के दिन आये तब स्वामीजी बिमारी की हालत में ही सुबह, मध्याह्न और रात्रि में धार्मिक उपदेश और व्याख्यान दिया करते, खुद गोचरी जाते तथा 'पंचमी' भी बाहर पधारा करते थे। बीमारी कोई भयानक नहीं दिखती थी और न लोगों ने इसे भयानक समझा था। भाद्र शुक्ला चौथ की बात है। स्वामीजी को ऐसा मालूम हुआ जैसे शरीर ढीला पड़ गया हो और उन्होंने अनुमान से समझा कि अब आयु नजदीक है। स्वामीजी ने खेतसीजी से कहा—'तुम, भारीमल और टोकरजी बड़े सुविनीत शिष्य हो। तुम लोगों के सहयोग से मुझे बड़ी समाधि रही है और मैंने संयम का अच्छी तरह से पालन किया है।' और फिर स्वामीजी

ने अकस्मान ऋषि भारीमलजी आदि सन्तों को श्रावक श्राविकाओं के बैठे हुए बड़ा मार्मिक उपदेश दिया। यह उपदेश संघ संचालन के लिए जितना महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है, उतना ही आत्मदर्शी मुमुक्षु साधु श्रावकों के लिए मार्ग प्रदर्शक और अमोल है। उसका सार इस प्रकार है:—

१—जिस तरह तुमलोग मुझे समझते रहे और मेरे प्रति तुम लोगों की प्रतीति थी, वैसे ही ऋषि भारीमल के प्रति रखना।

२—शिष्य भारीमल सब सन्त सतियों का नाथ है उसको आचार्य मान, उसकी आज्ञा की आराधना करना। उसकी मर्यादा का लोप मत करना।

३—ऋषि भारीमाल की आण लोप कर जो गण बाहर निकले, उसे साधु मत समझना; जो इसकी आण को शिरोधार्य करे और सदा सुविनीत रहे, उसकी सेवा करना। यह जिन मार्ग की रीति है।

४—ऋषि भारीमाल को भार लायक जान कर ही आचार्य पदवी दी है। इसकी प्रकृति शुद्ध और निर्मल है। ऋषि भारीमाल में शुद्ध साधु की चाल है और वह शुद्ध साधुव्रत पालन का कामी है। इसमें कोई शंका को स्थान नहीं है।

५—शुद्ध साधुओं की सेवा करना; अनाचारियों से दूर रहना; जो कर्म संयोग से अरिहंत भगवान और गुरु आज्ञा का

लोप करें, उन अपछन्दों-स्वेच्छाचारियों को वन्दना योग्य मत समझना ।

६—उसन्नों, पासत्थों, कुशीलियों, प्रमादी और अपछन्दों का संग न करना । इन्होंने भगवान की आज्ञा को लोप दिया है । जिन भगवान ने ज्ञाता सूत्र में इनके संग करने का निषेध किया है । जिन भगवान की आज्ञा के पालन से परम पद मिलता है । आनन्द श्रावक के अभिग्रह के मर्म को समझ कर उसके अनुसार आचरण करना ।

७—सब साधु साधवियाँ परस्पर में विशेष प्रीतिभाव रखना । एक दूसरे के प्रति राग द्वेष मत करना और कभी दलबंदी न करना ।

८—दिल देख-देख कर शुद्ध दीक्षा देना और ऐरे गैरे हर किसी को गण में मत मूंड़ना ।

९—कोई सूत्र की बात समझ में न आवे तो उसको लेकर खींचातान मत करना; मन में संतोष कर उसे केवलियों को भोला देना ।

१०—किसी बोल की थाप गुरू की आज्ञा विना स्वछन्द मत से मत करना ।

११—एक, दो, तीन आदि कितने ही गण से क्यों न निकल जायं उनकी परवाह न करना, उन्हें साधु मत समझना और शुद्धतापूर्वक साधु-आचार का पालन करते जाना ।

१२—सब एक गुरु की आज्ञा में चलना; इस परस्परा रीति

को मत छोड़ना; आगे जो लिखत किया है उसका बराबर पालन करना।

१३—कोई साधु दोष सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित न ले तो उसे गण से दूर करना।'

अकस्मात् इस उपदेश को सुन कर संतों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। संतों ने इसका कारण पूछा, तब स्वामीजी ने

१—स्वामीजी का उपरोक्त उपदेश, कई विचारक बन्धुओं का कहना है कि, विचार-स्वातन्त्र्य का गला घोंटता है। स्वामीजी के उपरोक्त बोध में से केवल न० २,३ और ९ को ही उद्धृत कर उस पर टिप्पणी करते हुए 'ओसवाल नवयुवक' के विद्वान् सम्पादक श्री भवरमलजी सिंघी ने इसी मासिक पत्र के ९ वें वर्ष के ८ वें अङ्क में लिखा था :

"यदि उक्त आचार्य के इन उपदेशों का ध्यान में रख कर हम उनके सम्प्रदाय-विच्छेद के कार्य को देखें तो वे स्वयं अपने उपदेशों से गुरु की आज्ञा को उल्लङ्घन करनेवाले अविनयी सिद्ध होते हैं। उन्होंने ही अपनी श्रद्धा को खींचातान के बदले क्यों नहीं केवली को भोळा दिया? लेकिन नहीं, जड़ता तो साम्प्रदायिकता के साथ रहनेवाला अनिवार्य पाप है। वास्तव में जो उक्त आचार्य ने किया वह उनकी आत्मा के बल का परिचायक था, पर जो उपदेश दिया वह निर्बलता, साम्प्रदायिकता और जिन मार्ग विपरीतता थी। जिस भी आचार्य ने ऐसा किया है—और लगभग सभी सम्प्रदायाचार्यों ने ऐसा किया है—वे सभी इस दोष के भागी हैं।"

परन्तु गम्भीरतापूर्वक देखने से पता चलेगा कि उपरोक्त उद्गार विशेष सोच-विचार कर प्रकट नहीं किए गये हैं, उनके पीछे जैन-धर्म के आचार-

जवाब में कहा था—"मेरा मन अब ढीला पड़ गया है। मुझे परभव नजदीक मालूम दे रहा है, इसलिए यह मौका है। मेरे मन में और कोई आशंका या भय नहीं है। मेरे हृदय में परमानन्द है, तुम लोगों के सहयोग से मुझे पूर्ण समाधि रही है। मैंने अनेक मुमुक्षु जीवों के हृदय में अमोल समकित रूपी बीज को लगाया है। मैंने अनेकों को बारह व्रत आदराये हैं तथा अनेकों

विचार सम्बन्धी गहरा अज्ञान रहा हुआ है। जैन शास्त्रों में जगह-जगह गुरु के विनय करने की बात आयी है। जिस तरह अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की शुश्रूषा करने में सावधान रहता है, उसी प्रकार शिष्य को अपने गुरु की सेवा करने के लिए सावधान रहना चाहिये। शिष्य गुरु की आज्ञा अनुसार कार्य करे और गुरु का अपमान न करे। इस तरह के वाक्य जगह-जगह आए हैं परन्तु इन वाक्यों का उद्देश्य कुगुरुओं का विनय करते रहने चाहिए—यह नहीं है। उसी प्रकार स्वामीजी के वचनों से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि स्वामीजी ने उस विचार-स्वतन्त्रता का गला घोंटा था जो स्वतन्त्रता भ्रष्टाचारी गुरु के प्रति बलवा करने के लिए प्रेरित करे। स्वामीजी ने एक आदर्श साधु संस्था को खड़ा किया था। ऋषि भारीमालजी को उन्होंने भारलायक समझा था उनमें शुद्ध साधु की चाल देखी थी तथा आचार पालन की नीति देखी थी इसलिए उन्हें पूज्य मान कर उनकी आज्ञा में चलने का उपदेश दिया था—यह स्वामीजी के उन उपदेश वाक्यों से प्रगट है, जो कि उद्धरण में छोड़ दिए गये हैं और जिन पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। अपने उपदेश में उन्होंने यह भी कहा था—जो साधु लिए हुए व्रतों का पालन न करे—दोष का सेवन

को साधु प्रव्रज्या में दीक्षित किया है। मैंने सूत्र और न्याय के अनुसार अनेक ढालें रची हैं। मेरे मन की अब कोई बात बाकी नहीं रही है। तुम लोगों से भी मेरा यही उपदेश है कि स्थिर चित्त रख कर भगवान के मार्ग का अनुपालन करना, कुमति और क्लेश को दूर कर आत्मा को उज्ज्वल करना, एक अणी भर भी चूके बिना शुद्ध आचार की आराधना करना, पाँच समिति,

करे और मालूम पड़ जाने पर भी उनका यथोचित प्रायश्चित्त न ले तो किसी प्रकार की खातिर करे बिना उसे गण बाहर कर देना। स्वामीजी ने ऋषि भारीमालजी के लिए अलग नियम रख दिया था यह कहीं नहीं मिलता। उनमें कोई दोष दिखाई दे तो भी उपेक्षा करते जाने का उन्होंने साधुओं को उपदेश नहीं दिया था। उन्होंने जगह-जगह कहा है : जैन धर्म में गुणों को पूजा है वे मार्ग दूसरे हैं जो निर्गुणों की पूजा करते हैं। सोने की छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई पेट में नहीं मारता उसी प्रकार कुलपरम्परागत गुरु भी यदि भ्रष्टाचारी हो और कुगतिको पहुँचानेवाला हो तो वह पूजनीय नहीं है। स्वामीजी के ये वाक्य भी सबके लिए थे। अपनी सम्प्रदाय के बाद में होनेवाले आचार्यों के सम्बन्ध में उन्होंने दूसरा नियम नहीं किया था। उनके सम्बन्ध में कोई छूट नहीं रखी थी फिर उपरोक्त उद्गारों को प्रगट करने की कोई भित्ति नहीं है। भावावेश में आकर लेखक ने एक बहुत बड़ा अन्याय कर डाला है। स्वामीजी ने यह भी उपदेश दिया था कि दिल देख-देख कर दीक्षा देना, हर किसीको मत मूण्ड लेना। इसमें गुणों को प्रथम देखने को हिदायत की है फिर वह कौन-सी स्वतन्त्रता है जिसका स्वामीजी ने गला घोंटा था और जिसको लेकर यहाँ

तीन गुप्ति और पाँच महाव्रत का पूर्ण जागरूकता के साथ पालन करना, शिष्य-शिष्या तथा वस्त्र-पात्र आदि उपधियों पर मूर्छा मत करना, प्रमाद को दूर करना, संयम के वातावरण में शुद्ध मन से विहार करना, पुद्गल-ममता के प्रसंगों को मन, मन से दूर करना।" इस प्रकार स्वामीजी ने अनुपम उपदेश दिया, मानो अमृत का झरना खोल दिया हो। यह उपदेश आज भी स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

ऋषि रायचन्दजी को स्वामीजी ब्रह्मचारी के नाम से सम्बोधित किया करते थे। उनसे कहा—'तुम बुद्धिमान बालक हो,

तक लिख दिया गया है कि स्वामीजी का यह उपदेश जिन मार्ग विपरीत था? दशवैकालिक सूत्र में लिखा है : "आदर्श साधु असंयमियों की सेवा नहीं करता, उनका अभिवादन नहीं करता, उनको वन्दन नमस्कार नहीं करता। परन्तु वह असंयमी के संग से मुक्त हो। ऐसे आदर्श साधुओं के संघ में रहता है जिससे कि उनके चारित्र को हानि न हो।" उपरोक्त उपदेश को देते समय स्वामीजी के सामने कठिन संयमी भगवान महावीर के उपरोक्त तथा सूत्रों में जगह-जगह आए ऐसे ही अन्य प्रवचन रहे होंगे। इन उपदेशों में एक बहुत बड़ा परमार्थ था। स्वामीजी अपने गण को आपात पवित्र समझते थे। उसको शुद्ध जिन-शासन के रूप में खड़ा करने का उन्होंने जीवन भर प्रयत्न किया था और उस रूप में उसे खड़ा करने में सफल भी हुए थे। 'जिन शासन' मूल में चलता रहे उसमें विकार न आए इस दृष्टि से ही उन्होंने उपरोक्त नियम किए थे। कोई भावावेश में आकर, उनमें गहरी साम्प्रदायिकता का भले ही दर्शन करे परन्तु वे केवल

मोह मत करना। ऋषि ने जवाब दिया आप तो अपने जन्म को सार्थक कर रहे हैं फिर मैं मोह क्यों करने लगा ?

इसके बाद में स्वामीजी ने तीव्र आत्म आलोचना की तथा जान-अजान में कोई पाप हो गया हो तो उसके लिए 'मिच्छामि दुक्कड़' किया। चन्द्रभाणजी, तिलोकचन्दजी आदि जो गण बाहर हो गये थे उनके नाम लेकर क्षमत क्षामना किया। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने तलस्पर्शी आत्म-निरीक्षण कर जीवन शुद्धि की। स्वामीजी की इस आलोचना का सार

उग्र आत्मनिरीक्षण और अनशन—

एक मात्र इसी उद्देश्य से दिए गये थे कि भगवान का शासन जयवन्ता रहे—वह दिन-दिन प्रगति करता जाय, गुणों की पूजा हो, निर्गुणों का सत्कार न हो। केवली को भोला देने की बात भी व्यर्थ के वितण्डावाद को कम करने के गम्भीर हेतु से कही गई थी। स्वामीजी खुद ने सूत्रों के ऐसे बोलों को केवली को भोलाया था जिनका आशय स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आया था। इसका आशय यह न था कि आचार-विचार में शिथिलता आ जाय और सूत्र के वचनों से यह प्रगट हो कि वास्तव में शिथिलाचार का सेवन किया जा रहा है तो भी अपनी शंकाओं को केवली को भोला देना ! स्वामीजी की पंक्तियों का ऐसा अर्थ करना तो अनर्थ करना होगा, बुद्धि को ताक पर रखना होगा। उसका अर्थ तो साफ और सीधा है और वह इतना ही है कि कोई ऐसा बोल हो जिसका अर्थ समझ में नहीं आता हो तो उसको लेकर खींचातान नहीं करनी चाहिए—व्यर्थ शब्दों के झगड़ों में न पड़ उसे केवली गम्य समझ कर सन्तोष करना चाहिए।

ऐसी परिस्थिति में व्याख्यान देना कोई सहज बात न थी।
भागीमलजी ने कहा 'स्वामी, आपके सामने है हमारे व्याख्यान
की क्या विशेषता है।' परन्तु स्वामीजी ने कहा -'जब तुम संत
और सतियाँ संथारा करते हैं तो उनके सामने व्याख्यान देते हो
फिर मेरे सामने क्यों नहीं देते ?'

इस तरह स्वामीजी ने व्याख्यान दिलवाया और उसे मनो-
योग पूर्वक सुना। रात व्यतीत हुई। सुबह स्वामीजी ने कुछ
जल ग्रहण किया और फिर ध्यानस्थ हो गये। इस समय एक
आश्चर्यकारी घटना हुई। करीब १॥ पहर दिन चढ़ा होगा, तब
स्वामीजी ने कहा—'साधु और साध्वियाँ आ रही हैं,
उनके सामने जाओ।' स्वामीजी की इस बात का अर्थ
भिन्न २ लगाया जाने लगा। कइयों ने समझा कि स्वामीजी
का ध्यान साधुओं में लगा हुआ है, इसलिए ऐसा कहा है। परन्तु
कुछ ही समय बाद दो साधु आ पहुंचे जो गुरु के अनन्य व्याकु
हो रहे थे और फिर साध्वियाँ भी पहुंचीं। लोगों के आश्
का ठिकाना न रहा। स्वामीजी ने यह बात किस तरह कही
यह कोई भी न जान सका। इस घटना पर टिप्पणी करते हु
जय महाराज ने लिखा है कि स्वामीजी ने यह बात अट
अन्दाज से कही थी या उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था,
निश्चय पूर्वक तो केवली ही जाने परन्तु उनकी बात
मिली थी। आए हुए साधु साध्वियों ने स्वामीजी को
की और स्वामीजी ने उनकी वंदना को स्वीकार कि

स्वामीजी को लेटे हुए बहुत देर हो गयी थी, इसलिए संतों ने उनकी इच्छा से उन्हें बैठा कर दिया। स्वामीजी ध्यानासन में बैठे थे। उस समय उनके कोई असाता नहीं मालूम पड़ रही थी। सन्त उनके पास बैठे गुणगान कर रहे थे। चारों ओर श्रावक श्राविकाएं दर्शन कर रही थीं। इस तरह बैठे-बैठे ही अचानक स्वामीजी की आयु अवशेष हुई। परम समाधिपूर्वक स्वामीजी का देहावसान हुआ। यह भादवा सुदी, १३ मंगलवार का दिन था और सूर्यास्त में प्रायः १॥ पहर बाकी थी।

स्वामीजी घर में करीब २५ वर्ष, आचार्य रुघनाथजी के साथ आठ वर्ष और अवशेष प्रायः ४४ वर्ष तक तेरापन्थी सम्प्रदाय के नायक रूप में रहे। उनका देहावसान ७७ वर्ष की अवस्था में हुआ। स्वामीजी ने कुल ५१ चौमासे किए। आठ चौमासे आचार्य रुघनाथजी के पास रहते हुए किए, अवशेष ४३ चौमासे शुद्ध संयम में किए। इन का ब्यौरा निम्न प्रकार है :

जीवन सम्बन्धी खास-खास बिगतें—

चौमासों की	संख्या	सम्वत
१—केलवे	६	१८१७,२१,२५,३८,४६,५८
२—वरलू	१	१८१८
३—राजनगर	१	१८२०
४—कटालिया	२	१८२४,१८२८
५—बगड़ी	३	१८२७,३०,३६
६—माधोपुर	२	१८३१,४८

चौमासों की	संख्या	सम्वत
७—पीपाड़	२	१८३४,४५
८—आंधर	१	१८३५
९- पादु	१	१८३७
१०—सोजत	१	१८५३
११—श्री जी द्वार	३	१८४३,५०,५६
१२—पुर	२	१८४७,५७
१३—खेरवे	५	१८२६,३२,४१,४६,५४
१४—पाली	७	७१८२३,३३,४०,४४,५२, ५५,५६
१५—सिरियारी		१८१६,२२,२६,३६,४२,५१,६०

स्वामीजी ने कुल ४८ साधु और ५६ साध्वियों को प्रव्रजित किया जिसमें से २८ साधु और ३६ साध्वियाँ कठिन नियमों का पालन न कर सकने या न करने से गण च्युत हो गयी या कर दी गईं।

स्वामीजी ने अपने पीछे मूलागम अनुसार निर्दोष साधुव्रत पालन करने वाले तपस्वी साधुओं का एक बड़ा सम्प्रदाय छोड़ा था। इस साधु सम्प्रदाय में धुरन्धर विद्वान, महान् तपस्वी, असाधारण तत्त्वज्ञानी और आत्मज्ञ साधु थे।

उनके श्रावकों में शोभजी, टीकमजी डोसी, गेरूलालजी व्यास आदि प्रसिद्ध हैं।

.. .. .. मेवाड़, ढूंढाड़ और हाडोती इन चार देशों में ही

स्वामीजी का विहार हुआ था। कच्छ में धर्म-प्रचार का कार्य टीकम डोसी के द्वारा हुआ था जिसने स्वामीजी के दो बार दर्शन किए थे।

स्वामीजी एक महा प्रज्ञावान, सम्पूर्ण तपस्वी, पराक्रमी, आत्मज्ञानी, तरवज्ञ, धृतिमान और जितेन्द्रिय आचार्य थे। वे मूल जिन मार्ग को जानने वाले भोमिया पुरुष थे।

स्वामीजी का जीवन-चरित्र सर्व प्रथम स्वामी वेणीरामजी ने लिखा। स्वामी हेमराजजी ने भी उनका एक जीवन-चरित्र, संस्मरण और दृष्टान्त लिखे हैं और उनका एक बहुत ही उच्च कोटि का जीवन-चरित्र चतुर्थ आचार्य श्रीमद् जय महाराज ने लिखा है। ये सभी परम पठनीय हैं। हिन्दी में भ्रम विध्वंसन की भूमिका में ही स्वामीजी की जीवनी मिलती है। 'ओसवाल नवयुवक' नामक सर्व प्रथम मासिक पत्र वर्ष ६ अंक ८ में लेखक द्वारा लिखी एक संक्षिप्त जीवनी प्रगट हुई थी। यह जीवनी उसीका संशोधित, परिवर्तित और परिवर्द्धित संस्करण है।

भगवान के अप्रतिम पुजारी—

स्वामीजी ने किसी नए धर्म का प्रचार नहीं किया परन्तु उन्होंने मूल जिन मार्ग का प्रकाश किया था। वे भगवान के वचनों के अप्रतिम पुजारी थे। उनमें उन्हें अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने अपने आचार-विचार सबको भगवान की शरण में अर्पण किया था। अपने सम्प्रदाय के नाम-संस्करण के समय

'तेरापन्थी' शब्द की उन्होंने जो व्याख्या की है वह स्वामीजी के चरित्र की इस विशेषता को साफ प्रगट करती है। वे जगह-जगह कहते हैं - 'भगवान का धर्म सौ टञ्च का सोना है, उसमें खोट नहीं टिक सकती।' 'भगवान का आश्रय बड़ा उदार आश्रय है। इसकी शरण में आकर किसी को अनीति पर नहीं चलना चाहिए।' 'भगवान का मार्ग राजमार्ग है— वह पगडंडी की तरह बीच में कहीं नहीं रुकता पर सीधा मोक्ष पहुंचाता है, इस प्रकार भगवान के वचनों के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी वे उनके वचनों को बड़ी ऊंची निगाह से देखा करते थे। जब स्वामीजी को इस बात की आशंका हुई थी कि धर्म का प्रचार होना सम्भव नहीं उस समय उन्होंने एक बड़ी मार्मिक ढाल जोड़ी थी जो प्रायः 'विखे की ढाल' कहलाती है। इसमें स्वामीजी ने भगवान महावीर को संबोधन कर कहा था :—"आपने राजा सिद्धार्थ के घर जन्म लिया, आप रानी त्रिशला के अंगजात थे। आप तीनों लोक में प्रसिद्ध चौबीसवें तीर्थंकर हुए। आपने अथिर संसार का त्याग कर संयम धारण किया और घनघाती कर्मों का क्षय किया। आपने केवली होने के बाद तीर्थ चलाया और निरवद्य धर्म का प्रचार किया। आपने १४,००० साधु, ३६,००० साध्वियों को संयम धारण करवा मुक्ति मार्ग पर लगा भव पार उतार दिया। आपने १,५९००० हजार से ऊपर श्रावकों को व्रतधारी किया और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाओं का उद्धार किया। आपने निर्मल ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार को मुक्ति का

मार्ग बतलाया। साधु श्रावक का धर्म बताकर आप मुक्ति पधारे।

भगवान ! आज भारत में कोई केवल ज्ञानी नहीं है। १४ पूर्व का ज्ञान आज विच्छेद हो गया है। आज कुबुद्धि कदाग्रहियों ने धर्म में बड़ा फरक डाल दिया है। ऊँचे कुल के राज-राजियों ने जिन धर्म को छोड़ दिया है। आज तो साधु के वेष में केवल लगड़े-लगड़ी है। हे प्रभु ! आज जैन धर्म पर विपत्ति पड़ी है। इस धर्म में आज एक भी राजा नहीं दिखाई देता। आज तो ज्ञान रहित केवल वेष की वृद्धि हो गई है। इन वेषधारियों की भिन्न भिन्न श्रद्धा है और अलग अलग आचार है। ये द्रव्यलिंगी केवल नाम मात्र के लिए साधु नाम धराते हैं। इन्होंने तो अपनी रक्षा के लिए अन्य दर्शनों की शरण ले ली है। इन्हें किस प्रकार रास्ते पर लाया जाय ! ये तो परस्पर में ही वन्दनादिक की सौगन्ध करा कर एक दूसरे के प्रति आस्ता को उतारते हैं परन्तु जब न्याय-चर्चा का काम पड़ता है तब ये भूठ बोलते हुए एक साथ हो जाते हैं। इनकी श्रद्धा का कोई सिर पैर नहीं है। ये बहुत विपरीत बोलते हैं।

हे प्रभु ! आपने उत्तराध्ययन में ज्ञान दर्शन चारित्र तप इन चार को ही मुक्ति का मार्ग कहा है। मैं इनके सिवा और किसी में धर्म नहीं श्रद्धता। मैंने तो अरिहन्त भगवान को देव, निर्ग्रंथ साधु को गुरु और आप केवली भगवान द्वारा बतलाये हुए धर्म को धर्म—इस प्रकार तीन तत्त्वों को सत्य समझ कर उनकी शरण हुआ हूँ और मत भ्रमजाल को दूर कर दिया है। इन तीनों

शब्दों में, हे जिन भगवान ! आपकी आज्ञा है, और आपकी आज्ञा को ही मैंने प्रमाण मान लिया है। मेरी आत्मा इस प्रकार भ्रम और मूढ़ भाव को त्यागती है और मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हूँ। हे प्रभु ! मेरे तो आप ही का आधार है और केवल सूत्रों की ही प्रतीति है।"

उपरोक्त वाक्यों में भगवान के प्रति उनकी अनन्य भक्ति, अटूट श्रद्धा जगमगा रही है। स्वामीजी भगवान के असाधारण पुरोहित थे, वे अपने को भगवान का सन्देश-वाहक कहने में उनका नाम कहने में अनन्य आनन्द का अनुभव करते थे। एक बार विहार करते-करते स्वामीजी केलवे नामक गाँव में पधारे। वहाँ के ठाकुर मोहकमसिंहजी स्वामीजी के दर्शन करने आए। उन्होंने जनता के बीच स्वामीजी से प्रश्न किया— 'स्वामीजी ! आपके गाँव-गाँव की प्रार्थनाएँ आती हैं, आपको सभी स्थानों के लोग चाहते हैं। स्त्री-पुरुषों को आप अत्यन्त प्रिय हैं—आपको देख कर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहता—ऐसा आप में कौन-सा गुण है मुझे बतलाइए ?' स्वामीजी ने जो जवाब दिया था वह उनकी भगवान के प्रति श्रद्धा को खूब प्रकट करता है। उन्होंने कहा—"जिस तरह एक पतिव्रता स्त्री का पति प्रदेश गया हुआ हो और बहुत दिनों से समाचार न आने से वह चिन्तित हो और उसी समय पति के यहाँ से कासीद आवे तो उसे हर्ष होना स्वाभाविक है। वह उस सन्देश-वाहक से नाना प्रकार के प्रश्न पूछती है और सुन-सुन कर अधिकाधिक

हर्षित होती है, उसी प्रकार हम भगवान के सन्देश-वाहक हैं। कासीद के पास केवल पति के समाचार थे। हमारे पास प्रभु के समाचार तो हैं ही उसके अतिरिक्त हमलोग पंच महाव्रतधारी भी हैं। हम भगवान का गुणग्राम करते हैं, लोगों को मुक्त का मार्ग बतलाते हैं। हम नर्क के दुःख दूर टल जायं ऐसी बातें बतलाते हैं इसलिए हम सबको प्रिय हैं। प्रभु के प्रतिनिधि के नाते ही ये विनतियाँ हैं—इसका कोई दूसरा रहस्य नहीं है।"

एक महान क्रान्तिकारी भिक्षु —

स्वामीजी महान क्रान्तिकारी भिक्षु थे। अपने समय के साधुवर्ग और श्रावकवर्ग में जो-जो आचार-विचार विषयक शिथिलता आ गई थी उसको दूर कर उनमें चारित्रिक दृढ़ता लाने का स्वामीजी ने भगीरथ प्रयत्न किया था। भगवान का सच्चा प्रतिनिधित्व कर उन्होंने प्राचीन मूल जिन मार्ग का रहस्योद्घाटन किया था। उन्होंने अपने समय के साधु समाज में आ घुसे शिथिलाचार की धज्जियाँ उड़ाई और भगवान प्रणीत सच्चे मार्ग का आदर्श जनता के सामने उपस्थित किया। आधाकर्मी स्थानक सेवन, अति आहार लोलुपता, दया के रूप में हिंसा-प्रचार, वस्त्र वृद्धि, स्वाभिमान को गिरा-गिरा कर आहारादि के लिए गृहस्थों की गरज, ज्ञान-सम्पादन के नाम पर अत्यधिक पुस्तक मोह, गृहस्थों से सेवा लेना और गृहस्थों की सेवा करना, धर्म के नाम पर गृहस्थों को आरम्भ कार्यों की प्रेरणा करना आदि दोषों की भर्त्सना की थी और केवल

परन्तु देव धारण कर [illegible] द्वारा भगवान के ज्ञान को
सुधारने के लिए [illegible] इसी प्रकार उन्होंने दूसरों को
उनके श्रावक बनने की प्रेरणा की थी। उन्होंने सब समय, बगैर
[illegible] आदि [illegible] का समय [illegible] करने का प्रयत्न किया
था [illegible] उन्हें इस बात का मालूम था कि हीनाचारी
गुरु फिर चाहे वह [illegible] ही क्यों न हो कभी पूज्य
नहीं है। हीनाचारी गुरु का सेवन दुर्गति का कारण है। गुरु का
दोष छिपाना गुनाह है। इसमें गुरु और अनुयायी दोनों का
पतन होता है। उन्होंने कहा था कि भगवान ने विनय को धर्म
का मूल बतलाया है परन्तु यह विनय सद्धर्म, सद्गुरु और
सत् देव के प्रति ही होना चाहिए। चारित्रिक दृढ़ता के ऊपर
स्वामीजी कितना जोर दिया करते थे यह उनके जीवन की
घटनाओं के सूक्ष्म अवलोकन से मालूम होगा। एक बार
स्वामीजी ने अपने परम भक्त शिष्य भारीमालजी से कहा था—
"हे भारीमाल! यदि कोई भी तुम में दोष निकाले तो उसके
लिए तुमको तीन दिन का उपवास करना पड़ेगा।" भारीमालजी
ने कहा—"स्वामीनाथ! ये तेले तो रोज ही आयगे क्योंकि हमारे
द्वेषी बहुत हैं। छिद्रान्वेषण करना, दोष निकालना उनके लिये
कोई बड़ी बात नहीं है।" इस पर स्वामीजी ने बड़ा ही गम्भीर
उत्तर दिया था। उन्होंने कहा था—"कोई यदि सचमुच ही दोष
निकाले तो उस दोष सेवन के पाप से बचने के लिए तेले का दण्ड
[illegible] होगा और यदि कोई व्यर्थ दोष निकाले तो अशुभ कर्मों का

उदय समझ उसके नाश के लिए तेले की तपस्या करनी होगी।" इस तरह स्वामीजी शुद्ध सच्चे आदर्श साधुत्व की उपासना करते थे और जनता के सामने भी निर्दोष निष्कलंक- आपात पवित्र साधु जीवन का आदर्श उपस्थित करना चाहते थे।

अपने समय के साधु-समाज के दोषों के प्रति उन्होंने जो भीषण क्रान्ति मचाई थी उसका दिग्दर्शन उनकी "श्रद्धा आचार की चौपाई" तथा "१८१ बोल की हुण्डी" से मालूम होगा। साधु-समाज में अहिंसा की अक्षुण्ण उपासना हो, छोटे बड़े सब जीवों के प्रति समभाव हो, पंचम आरा का नाम लेकर कोई शिथिलाचार का पोषण न करे परन्तु अधिक दृढ़ता, उत्साह और हिम्मत के साथ संयम धर्म का पालन करे, भगवान के वचनों में अटूट श्रद्धा हो, जिन मार्ग की सूक्ष्मता—बारीकी रोम-रोम में हो, भगवान के नियमों का अखण्ड पालन हो, साधुओं में सच्चा त्याग हो, स्वाभिमान हो, किसी की गरज या परवाह न हो, आदि बातों के ज्वलंत उदाहरण उपस्थित करना ही स्वामीजी के जीवन की साधना थी। आचार में ढिलाई देख वे किसी की खातिर न करते थे। उन्होंने आचार को विद्वत्ता से ऊँचा स्थान दिया था। आचार बिना विद्वता को वे बिना धान के तुष की तरह समझते थे। और इसी कारण से उन्होंने कई विद्वान शिष्यों की विद्वत्ता की जरा भी खातिर किए बिना आचार में शिथिलता लाने के कारण उनको गण बाहर किया था। स्वामीजी ने अपने जीवन के अन्तिम

उपदेश में भी यही कहा था कि यदि कोई दोष का सेवन करे और प्रायश्चित्त न ले तो उसे उसी समय गण से बाहर कर देना— उसकी परवाह न करना। इस तरह स्वामीजी का जीवन एक महान साधना, उत्कट तपस्या और निरन्तर आत्माभिमुखता और जागरूकता का जीवन था।

उच्च कोटि के कवि और लेखकः—

मूल जैन सिद्धान्त और जैनाचार को जनता में फैलाने के लिए स्वामीजी ने मारवाड़ी भाषा में साधु जीवन उपयोगी तथा गृहस्थ उपयोगी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ कविता—ढालों में हैं। '१८१ बोल की हुण्डी' गद्य में मिलती है। स्वामीजी में कवित्व शक्ति एक जन्म संस्कार था। उनके शब्दों में चमत्कार और अपूर्व भाव अभिव्यक्ति है। भावों में मौलिकता और शब्दों में बड़ा मिठास है। उनके शब्द नपे तुले और रचनाएं चुस्त हैं, उनमें शब्द परिवर्तन की गुंजाइश नहीं। स्वामीजी में उदाहरण (दृष्टान्त) देने की शक्ति बड़ी अपूर्व थी। उनकी रचनाएँ उनके मौलिक उदाहरणों से भरी पड़ी हैं। उनके रूपक असाधारण प्रतिभा को लिए हुए और हृदय में सहज आनन्द को उत्पन्न करनेवाले हैं। उनका प्रत्येक रूपक इतनी सूक्ष्मता और बारीकी के साथ पार उतारा गया है कि पढ़नेवाला आश्चर्य चकित हो जाता है। स्वामीजी एक कवि थे और ऊँचे दर्जे के संगीतज्ञ भी। वे गायक कवि थे। उनकी रचनाएँ मारवाड़ी भाषा की classical रागनियों में हैं। आप

उन्हें पढ़ने जाइए और वे याद होती जाती है। कवि की भावुकता और ऊंचे दर्जे की दार्शनिकता आपको जगह-जगह दृष्टिगोचर होगी। स्वामीजी की ढालों में असाधारण आगम दोहन है जो उनकी स्वाध्याय शक्ति, मूलाचार के प्रति और उनकी स्वापर्णता को प्रगट करती है।

स्वामीजी की मूल रचनाओं को पढ़ने से ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह अक्षर-अक्षर सत्य प्रमाणित होगा। हम इसके लिए पाठकों को स्वामीजी की मूल रचनाएँ पढ़ने का अनुरोध करेंगे। स्वामीजी की मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं :-

(१) अनुकम्पा की ढालें, (२) व्रतव्रत विचार की ढालें, (३) श्रद्धा आचार की चौपई, (४) जिन आज्ञा को चौढालियो, (५) दश दान को ढाल, (६) दान निवोड़ की ढाल, (७) तीन बोलों करि जीव अल्पायु बांधे की ढाल, (८) चार निक्षेपां की चौपई (९) बारह व्रत की ढालें, (१०) ९९ अतिचार की ढाल, (११) समकित की ढाल, (१२) श्रावक गुण सज्झाय (१३) इन्द्री वादी की ढाल, (१४) नन्दन मिणियारे रो चौढालियो, (१५) तेरह द्वार को थोकड़ो, (१६) १८१ बोल की हुण्डी, (१७) बारह व्रतां को लेखो (१८) एकलरो चौढालियो, (१९) सुदर्शण शेठ को वखाण, (२०) उदायी राजारो वखाण, (२१) जंबू कुंवर की चौपई (२२) शील की नववाड (२३) अर्जुन माली को चौढालियो (२४) श्री कृष्ण बलभद्ररी चौपई (२५) जिनरिख जिन-

पाल की चौढालियो, (२६) नव सद्भाव पदार्थ निर्णय और (२७) विनीत अविनीत की चौपई आदि।

'श्रद्धा आचार की चौपई', '१८० बोल की हुंडी' श्रद्धा आचार विषयक पुस्तकें हैं। इनमें स्वामीजी ने अपने समय के साधुओं में आए हुए दोषों की कड़ी आलोचना की है। शिथिलाचार के प्रति उनके उग्र विद्रोह भाव का अन्दाज इन रचनाओं से लगाया जा सकता है। 'नव सद्भाव पदार्थनिर्णय' नामक पुस्तक में नव तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन है। द्रव्य जीव और भाव जीव, द्रव्य पुद्गल और भाव पुद्गल, पुण्य क्या है, वह कैसे प्राप्त होता है आदि विषयों का जैसा तलस्पर्शी ज्ञान और विवेचन इसमें है वैसा इस विषय की कम पुस्तकों में देखने में आता है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि यह पुस्तक अपनी कोटि का कम साहित्य रखती है। 'व्रत अव्रत की ढालें' श्रावकोपयोगी साहित्य का रत्न कही जा सकती है। 'शील की नव बाड़' एक असाधारण उच्च कोटि की रचना है। 'जिन रिख जिनपाल के चौढालिए' द्वारा स्वामीजी ने 'व्रत' 'अव्रत' के अन्तर को बड़ा स्पष्ट कर दिया है। 'सुदर्शन सेठ' मारवाड़ी भाषा के व्याख्यानों में विशिष्ट स्थान प्राप्त करे ऐसी वस्तु है।

स्वामीजी के उदाहरण कितने चमत्कार पूर्ण होते थे इसका जिक्र एक जगह ऊपर आया है। स्वामीजी के दृष्टान्त जितने बोध प्रद हैं उतने ही आत्म साक्षात्कार कराने वाले और मूल मार्ग

को दिखाने वाले हैं। स्वामीजी की उत्पन्न बुद्धि के वे ज्वलंत प्रमाण है। देव, गुरु और धर्म इन तीन पदों में गुरु पद की महिमा को दिखाने के लिए तकडी की डांडी का उदाहरण, अनुकम्पा के सावद्य निरवद्य भेद को दिखाने के लिए, आक, थोर और गाय भैंस के दूध का उदाहरण, दस दानों में नीम, नीमोली, तेल, खल का उदाहरण, जबरदस्ती मुण्डे हुए साधुओं से शुद्ध आचार पालन करने की आशा करने के सम्बन्ध में जबरदस्ती चिता पर चढ़ा कर सती कर दी गई स्त्री से तेजरा बुखार दूर करने की व्यर्थ प्रार्थना का उदाहरण, परम्परा कुगुरु के साथ सोने की छूरी का उदाहरण, अनुकम्पा के सम्बन्ध में राजपूत और बकरे का उदाहरण ये सब यथास्थान इस संग्रह में आ गये हैं। अविनय की बुराई को दिखाते हुए विनीत अविनीत की चौपई में वे कहते है :—

जैसे अग्नि सार चीजों को जलाती है और पीछे राख को छोड़ देती है वैसे ही अविनय गुणों को भस्म करता है और अवगुण रूपी राख के ढेर को छोड़ देता है।

थावरिया (डाकोत) गर्भवती को कहता है कि तुम्हारे पुत्र होगा और पडोसन को कहता है उसके पुत्री होगी, वैसे ही अविनीत, गुरु भक्त श्रावक-श्राविकाओं के सम्मुख गुरु के गुणग्राम करता है परन्तु जो अपने वश होता है उसके सामने गुरु के अवगुण कहता है।

जैसे वेश्या मतलब [illegible] न पूगने

पर स्नेह गांठ देती है वैसे ही अविनीत स्वार्थ न निकलने प
अपना हित अन्त में देते हैं।

जिस तरह आटे को दूध में डालने से वह अच्छा होता है औ
अग्नि में डालने से नाश, उसी तरह से सम्मति देने से अविनी
राजी रहता है और न देने पर अवगुण गाने लगता है।

इस प्रकार बहुत से लौकिक उदाहरण इस रचना
मिलते हैं। 'शील की नववाड़' में वे कहते हैं :-

*खेत गांव की सीमा पर होता है तो बाड़ किए बिना उस
रक्षा नहीं हो सकती। बाड़ के बाद भी रखाई करनी पड़ती है
उसी प्रकार ब्रह्मचारी जहाँ विहार करते हैं वहाँ जगह-जग
स्त्रियाँ रहती हैं इसलिए भगवान ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लि*
शील की नववाड़ और एक कोट कहा है।

ब्रह्मचारी को स्त्री कथा न करनी चाहिए इस सम्बन्ध में
उदाहरण देते हैं : जैसे नीम्बू फल की प्रशंसा करते हुए मुख में जल
का संचार हो जाता है वैसे ही स्त्री कथा करने से ब्रह्मचारी के
परिणाम चलित हो जाते हैं। इसलिए स्त्री कथा नहीं करनी चाहिए

सरस आहार भोजन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था :

जोर का दावानल लग जाय, अथाह वायु बहे, बहुत इन्धन
वाला वन पास में हो तो फिर दावानल कैसे शान्त हो
सकता है ?

आग से इन्धन दूर कर देने से, वायु के बन्द हो जाने से
और ऊपर से जल डालने से दावानल बुझता है।

विषय दावानल है। युवावस्था वन है। हृष्ट-पुष्ट शरीर इन्धन है। सरस आहार वायु है। युवावस्था में हृष्ट-पुष्ट शरीर को रोज-रोज सरस आहार मिलने से विषय बढ़ता जाता है। शरीर को क्षीण करने से, सरस आहार का सेवन नहीं करने से तथा भोगों में वीतराग भाव लाने से विषय दूर होता है।

चर्चा करते समय किसी विषय को समझाने के लिये वे तुरन्त उदाहरण दिया करते थे।

एकबार भिक्षु को किसी ने कहा : 'आप सौगन्ध कराते हैं, उनको लेकर जो तोड़ता है उसका पाप आपको होता है'। स्वामीजी ने तत्क्षण उदाहरण देकर उसे समझाया : 'एक साहूकार है। वह एक वस्त्र बेच कर लाभ करता है। खरीदने वाला वस्त्र के दो टुकड़े करता है और प्रत्येक को कीमत से अधिक मूल्य में बेचता है। इस तरह उसे खूब नफा होता है परन्तु इस नफे में प्रथम बचनेवाले की कोई पांती नहीं होती। अब मानो कपड़े को लाभ पर न बेच कर खरीदनेवाला उसे अग्नि में जला डाले। तो इस नुकसान का भागी भी वही होगा—शुरु में बेचनेवाला नहीं। [illegible] समझा कर सौगन्ध कराते हैं उसका नफा तो [illegible] कराते समय ही हमको हो [illegible] ने या न निभाने [illegible] को ही [illegible]

किया—

महाशय कहने लगे—"क्या आप ही तेरापंथी भीखणजी हैं—आप के मुख देखने से तो नर्क मिलता है।" स्वामीजी ने तत्क्षण पूछा "और आपका मुंह देखने से"। बिना विचारे गर्व के साथ महाशयजी ने उत्तर दिया—"स्वर्ग में"। स्वामीजी ने कहा "हम तो नहीं मानते कि किसी के मुख देखने से स्वर्ग नर्क मिलता है परन्तु आपके कथनानुसार मेरे लिए स्वर्ग है और आपके लिये नर्क।" उन सज्जन की बोलती बन्द हो गई। अपना सा मुंह लेकर वहाँ से चलते बने।

स्वामीजी एक बार पाली शहर पधारे, उस समय उनसे एक महाशय चर्चा करने आए। वे कहने लगे कि कोई फांसी झूल रहा हो तो भी तुम्हारा दुष्ट श्रावक उसके गले से फांसी निकाल कर उसकी रक्षा नहीं करता। स्वामीजी ने समझाया कि मेरा तेरा मत करो जो कुछ चर्चा करनी हो वह न्याय पूर्वक करो। परन्तु वे सज्जन ऐसा क्यों मानने वाले थे। वे तो बार-बार इसी प्रकार कहते जाते थे। तब स्वामीजी ने उनसे पूछा : "दो आदमियों ने किसी मनुष्य को फांसी झूलते देखा। एक जाकर गले से फांसी निकालता है और दूसरा नहीं निकालता। अब बतलाओ फांसी निकलाने वाला कैसा और नहीं निकालने वाला कैसा मनुष्य है ?" सज्जन ने जवाब दिया : "जो फांसी निकालता है वह उत्तम पुरुष है—वह दयावान और स्वर्ग को जाने वाला है, जो नहीं निकालता वह नर्कगामी है।"

स्वामीजी ने फिर प्रश्न किया—"मानो आप और आप के

गुरु ने किसी को फाँसी झूलते देखा। फाँसी से कौन रक्षा करेगा ?"

चर्चा करने वाले सज्जन ने जवाब दिया: "मैं रक्षा करूँगा। मेरे गुरु ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि मुनि को ऐसा करना नहीं कल्पता।"

स्वामीजी ने कहा: "तब तो आपके अनुसार आपके गुरु नर्क गामी हुए!"

स्वामीजी की इस बात को सुन कर चर्चा करने वाले सज्जन के पित शांत हो गए। अपना सिर नीचा कर वहाँ से चल पड़े।

एक बार स्वामीजी पादु शहर पधारे। साथ में हेम ऋषि भी थे। एक श्रावक हेम ऋषि की चदर हाथ में लेकर कहने लगे: "यह चदर शास्त्रीय प्रमाण से लम्बी है।" स्वामीजी ने तुरन्त चदर को हाथ में लिया और उसकी लम्बाई चौड़ाई नाप दिखाई। वह शास्त्रीय प्रमाण से अधिक न थी। श्रावक शर्मिन्दा हुआ। वह बोला—"मुझे झूठ ही सन्देह हुआ।" स्वामीजी ने गम्भीर होकर कहा: "क्या तुमने हम लोगों को इतना मूर्ख समझ लिया है कि चार अंगुल कपड़े के लिए संयम जैसी सार वस्तु को खो देंगे। हम गांव-गांव विहार करते हैं। रास्ते में हमें कोई नहीं देखता तब तो हम कच्चा जल भी पी लेते होंगे? यह हमने कोई साधुपन का ढोंग नहीं रचा है। हमारी आत्मा ही हमारे साधुपन की गवाही है। संतों के प्रति ऐसा अविश्वास भविष्य में न करना।"

किसी ने स्वामीजी से कहा: "मेरा संयम लेने का विचार है मैं संयम लूंगा।" स्वामीजी ने कहा "दीक्षा का विचार ठीक है परन्तु मालूम तुम्हारे लिए कठिन है। तुम्हारा कचा हृदय गुरुणियों के मोह के आगे टिक नहीं सकता।" उसने कहा "स्वामीजी आप ठीक कहते हैं। गुरुणियों को रोते देखता हूं तो आंसू तो आ ही जाते हैं।"

स्वामीजी ने कहा: "जब जवाई बहू को लेकर सासरे से विदा होता है तब बहू रोती है जंवाई नहीं रोता। विरह के वियोग की वेदना से बहू का रोना स्वाभाविक ही होता है पर यदि वर ही रोने लगे तो यह विचित्र और समझ के बाहर की बात होती है। तुम्हारे दीक्षा लेने के विचार से गुरुणियों का रोना स्वाभाविक है परन्तु तुम संयम के लिए तैयार हुए किस प्रकार मोह ला सकते हो? तुम से संयम का बोझा नहीं उठ सकता। तुम दीक्षा के लिए अयोग्य हो।"

एक बार स्वामीजी को किसी ने कहा: "आपके बहुत लोग पीछे पड़े हुए हैं वे आपके दोष निकालते रहते हैं।" स्वामीजी ने उत्तर दिया: "यह तो अच्छा ही है। अवगुण तो निकालने के ही होते हैं—रखने के नहीं। कुछ अवगुण तो हम संयम और तप द्वारा निकाल देते हैं जो कुछ दूसरे निन्दा करते हैं उसको सम-भाव पूर्वक सहन कर निकाल देते हैं।"

एक सज्जन स्वामीजी के दया सिद्धान्त का उपहास करते

इस सम्बन्ध में एक और भी उदाहरण उन्होंने दिया था: "किसी गांव में ओझा जाता है और कहता है कि हम डाकणियों को बुला कर सुबह नीले काटों में जला डालेंगे तब डाकणियों के और उनके रिश्तेदारों के ही धसके पड़ते हैं और लोग तो यह सोच कर हर्षित होते हैं कि अब गांव का उपद्रव दूर हुआ। उसी तरह सच्चे साधुओं के आने से वेषधारी और उनकी पक्ष करने वालों के ही धसके पड़ते हैं मुमुक्षु को तो उनके आगमन की बात सुनने से हर्ष ही होता है। वे सोचते हैं—'हमें उत्तम पुरुषों के वचनामृत सुनने को मिलेंगे' सुपात्र दान का लाभ पाकर हम आत्म-कल्याण करेंगे'।"

स्वामीजी के और भी बहुत-से संस्मरण और दृष्टान्त यहाँ दिए जा सकते हैं परन्तु स्थानाभाव से नहीं दिए जाते। केवल एक घटना का और उल्लेख किया जाता है।

स्वामीजी के व्यक्तित्व का असर बड़ा जबदस्त होता था। उनके वैराग्यपूर्ण विचारों से श्रोता के हृदय में वैराग्य की धारा फूट पड़ती थी। ऋषि हेमराजजी की दीक्षा उनके व्यक्तित्व के इस पहलू को बड़े सुन्दर रूप में प्रकट करती है। मुनि हेमराजजी का दीक्षा लेने का विचार तो बहुत दिनों से था परन्तु वे विवाह करने के बाद दीक्षा लेना चाहते थे। स्वामीजी उनके गुणों से मुग्ध थे। एकबार स्वामीजी किसी गांव में पधारे। हेमराजजी उनके दर्शन करने के लिए आए। प्रभात होते ही हेमराजजी स्वामीजी को वन्दन नमस्कार कर अपने गांव की ओर चले। स्वामीजी

ने भी वहाँ से कुशलपुर की ओर विहार किया। स्वामीजी कुछ ही दूर गये होंगे कि उन्हें अपशुकुन हुए। स्वामीजी का चाल तो शीघ्र थी ही। वे हेमराजजी के नजदीक आ पहुँचे और पीछे से बोले --"हेमड़ा! मैं भी आ गया हूँ।" यह देख कर हेमराजजी बड़े पुलकित हुए। उनका रोम-रोम विकसित हो गया। वे वहीं रुक गये और दोनों हाथ जोड़ कर भक्तिभाव से वन्दना की। स्वामीजी बोले—"हम तो आज तुम्हारे लिए ही आए हैं। हेम सुन कर हर्षित हुए और स्वामीजी के वचनों को मन में समझ कर बोले : "आप भले ही पधारे हैं।" स्वामीजी ने कहा—"तुम्हारा संयम लेने का विचार है न? तुम्हें यह कहते-कहते तीन वर्ष हो गये कि मैं चारित्र लूंगा परन्तु अब अपने निश्चित विचार बतलाओ। मैं पाली चौमासा करना चाहता था परन्तु केवल तुम्हारे लिए सिरियारी में चौमासा किया। अपने भीतर की बात कहो। कोई बात छिपाओ मत।"

हेम ने हाथ जोड़ कर आन्तरिक हर्ष के साथ कहा: "चरण लेने का मेरा विचार पक्का है।"

यह सुन कर स्वामीजी बोले—"मेरे जीते जी लोगे या मरने के बाद?"

यह बात हेम को बहुत मर्म की लगी। वे बोले—"नाथ! आप यह बात क्यों कहते हैं? यदि आपको मेरी बात का विश्वास न हो तो नौ वर्ष के बाद ब्रह्मचर्य पालन का नियम करा दीजिए।" यह सुन कर स्वामीजी ने हेमराजजी की इच्छा

ने उसी समय त्याग करा दिया। अवसर के जानकार स्वामीजी त्याग करा कर बोले "सागर जी वर्ष तुमने विवाहित जीवन के लिए रखा है ?" हेमराजजी ने कहा : "आप ठीक कहते हैं।" तब स्वामीजी एक लेखा बतलाने लगे : "९ वर्ष में करीब एक वर्ष तो विवाह करते-करते बीत जायगा। तब आठ वर्ष रहेंगे। विवाह के बाद करीब एक वर्ष स्त्री पीहर रहती है। तब केवल सात वर्ष ही रहेंगे। तुम्हें दिन में स्त्री-सेवन का त्याग है तब केवल ३॥ वर्ष रहे। दूसरे पाँच तिथियों में विषय सेवन का त्याग है, अतः ३॥ वर्ष में केवल दो वर्ष ४ मास रहेंगे। ४ पोहर रात्रि में एक पोहर से कुछ कम स्त्री सेवन के लिए समझो। इस तरह विवाहित जीवन केवल छः मास तक ही भोगा जा सकेगा। यह हिसाब बतला कर स्वामीजी फिर बोले—"इतने से विषयिक सुख के लिए ९ वर्ष के संयमी जीवन को क्यों गमाते हो! इतने से सुख के लिए ९ वर्ष की ढील करना तुम्हें उचित नहीं। यदि विवाह करने के बाद एक दो बच्चे होकर स्त्री का देहान्त हो जाय तब तो महान विपत्ति आ पड़ेगी। बच्चों का सारा बोझा आ गिरेगा। फिर चारित्र आना विशेष कठिन होगा। इस लिए दोनों हाथ जोड़ कर उत्साह पूर्वक यावज्जीवन के लिए शुद्ध शील को अंगीकार करो।" यह सुन कर हेम की आभ्यन्तर आँखें खुल गयीं और हाथ जोड़ कर त्याग के लिए खड़े हो गए। यह देख कर दूर की सोचने वाले भिखु ने बार बार पूछा "क्या शील आदरवा दूँ।" तब हेम बोले

—"हाँ मुझे शील अङ्गीकार करवा दीजिये। शील लेना मुझे स्वीकार है।" यह सुन कर स्वामीजी ने त्याग कराया। पाँच पदों की साख से यावज्जीवन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण कराया। अब हेम बोले—"आप शीघ्र सिरियारी पधारें और मेरी आत्मा को तारें।"

तब स्वामीजी बोले "अभी मैं हीरांजी को भेजता हूँ। मन लगा कर साधु का प्रतिक्रमण सीखना।" यह कह कर स्वामी जी नींबली पधारे। इस तरह उजागर पुरुष भिक्षु ने हेम के सोए हुए पुरुषार्थ को जगा दिया और उनके हृदय से विषय वासना का दूर कर न केवल आजीवन ब्रह्मचर्य स्वमन से स्वीकार कराया परन्तु उनको दीक्षा लेने तक के लिए तैयार कर दिया। श्रीमद् राजचन्द्र ने एक जगह कहा है कि ज्ञानी के वचन विषय का विरेचन कराने वाले होते हैं। स्वामीजी के उपरोक्त प्रसंग में यह बात ज्वलन्त रूप से प्रगट हुई है।

स्वामीजी की रचनाओं में कटुपन आया है परन्तु यह उनके समय और परिस्थिति का ही परिणाम कहा जा सकता है। स्वामीजी को यह बात जरा भी उचित नहीं मालूम देती थी कि कोई धर्म के नाम पर मिथ्या आचार और विचार का प्रचार करे या पंचम आरा का नाम लेकर चरित्र विहीन हो जाय। वे साधुओं में संयम की कठोर साधना—अखण्ड साधना देखना चाहते थे और जब कभी वे साधुओं को संयम भ्रष्ट होते देखते—उनको जिन मार्ग से विपरीत आचरण करते देखते तो उनका हृदय

मर्माहत हो उठता था और वे उसका जोर से विरोध करते थे। एक समय किसी ने स्वामीजी से कहा—"आप बहुत कड़े दृष्टान्त देते हैं।" स्वामीजी ने उत्तर दिया: "गंभीर[1] जैसे तीव्र रोग के होने पर हल्के-हल्के खुजलाने से काम नहीं चलता। उस समय तो हलवानी[2] से डाम देने[3] पड़ते हैं तभी वह हल्का पड़ता है। मिथ्यात्व रूपी गंभीर रोग को मिटाने के लिए कड़े दृष्टान्त रूपी डाम देने पड़ते हैं।" परन्तु यह सब होते हुए भी स्वामीजी का खण्डन व विरोध मिथ्या मान्यताओं और सिद्धान्तों के प्रति होता था, व्यक्ति विशेष या सम्प्रदाय विशेष पर उन्होंने शायद ही कोई आक्षेप किया होगा। ऐसे राग-द्वेष के प्रसंगों को तो वे सदा टाला करते थे। एक बार स्वामीजी से एक महाशय ने पूछा—"इन बाईस टोलों में साधु कितने हैं और असाधु कितने हैं?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया: "एक अंधा था वह पूछता फिरता था इस शहर में नंगे कितने हैं और सवस्त्र कितने हैं? पूछते-पूछते यह वैद्य के पास आया। और उससे भी उसने यही प्रश्न किया।

वैद्य ने कहा "तुम्हारी आंखों में दवा डाल कर मैं तुम्हारी

१ गंभीर यह एक ऐसा रोग होता है जिसमे छिद्र ही छिद्र हो जाते हैं।

२ एक पत्र विशेष

३ तपे हुए लोहे को शरीर के लगा देना।

आँखों को देखने की शक्ति दे सकता हूँ फिर तुम खुद देख लेना कि कितने नंगे हैं और कितने सवस्त्र हैं।" इसी तरह हम भी साधु कौन है और असाधु कौन है यह बतला सकते हैं फिर तुम्हीं देख लेना कि कौन साधु है और कौन असाधु। हमें यह बताने की जरूरत नहीं है।"

तब प्रश्न किया गया "साधु कौन है? असाधु कौन है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया "यह तो सीधी बात है। जो संयम लेकर सही-सही पालन करता है वह सच्चा साधु है और जो व्रतों को अंगीकार कर उनका पालन नहीं करता वह असाधु है। जिस तरह रुपये उधार लेकर जो समय पर वापिस देता है वह साहु-कार कहलाता है और जो रुपये लेकर देता नहीं और तकाजा करने पर उल्टा झगड़ा करता है वह दिवालिया कहलाता है। इसी तरह मुनित्व धारण कर उसका पालन करते रहना साधुत्व का चिन्ह है। जो दोष होने पर उसे स्वीकार नहीं करता और उसका दण्ड नहीं लेता परन्तु उल्टा दोषों को धर्म सिद्ध करता है वह असाधु है।" उनकी रचनाओं में एक जगह भी बाईस सम्प्रदाय, सम्वेगी सम्प्रदाय या अन्य किसी सम्प्रदाय का नामो-ल्लेख नहीं है और न यह लिखा है कि अमुक सिद्धान्त अमुक सम्प्रदाय का है। अपने समय के साधु सम्प्रदाय में मूल आचार से भिन्न जो भी आचार विचार उन्हें मालूम दिया उसकी तीव्र आलोचना उन्होंने की है। आलोचन करते हुए भी उन्होंने जगह-जगह कहा है—"मैं जो कुछ कहता हूँ वह सम्मुचय साधु

आचार को साफ कहता हूँ। मुझे किसी से राग द्वेष नहीं है न किसी की व्यर्थ निन्दा करना चाहता हूँ। सच्ची आलोचना को आक्षेप या निन्दा समझना भूल है। जिस प्रकार आचारांग में भगवान ने एक दो नहीं परन्तु लाखों करोड़ों साधु साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं को नर्क पड़ते हुए बतलाया है — मैं उसी आचारांग को शुद्ध समझता हूँ। साधु और असाधु एक ही वेष में होने से असाधु को पहचानने के लिए ही उनके चारित्र्य का वर्णन किया है जिससे कि सत्य पुरुष साधु की शरण पड़ कर अपना आत्म-कल्याण कर सकें।

आचार्य भीखणजी को स्वामी दयानन्द की और उनके साहित्य को सत्यार्थ प्रकाश की उपमा देने वाले महानुभाव गहरी भूल करते हैं। शायद रिमर्च करते समय स्वामीजी की मूल कृतियों पर उनकी दृष्टि नहीं गई और न इनके ये उद्गार ही उनके सामने आए। इसलिए शायद 'भीखणजी' की जगह 'भीखम दास', 'तेरापन्थी' की जगह 'तेरहपन्थी' और 'अनुकम्पा की ढालें' नहीं परन्तु 'ढाल बना रखी है—' ऐसा लिखते हैं। इन महानुभाव से हमारा अनुरोध है कि वे स्वामीजी की मूल कृतियों को देखें और फिर विचारें कि उनके प्रति उपरोक्त विचार प्रगट कर उन्होंने कितना बड़ा अन्याय किया है। यदि स्वामीजी के प्रति यह उपमा लागू हो तब तो सूयगडांग पढ़ने पर यही उपमा भगवान महावीर को भी देनी होगी!

महान तत्त्वज्ञानी और दार्शनिक—

स्वामीजी जैसे उच्च कोटि के संस्कारी कवि थे वैसे ही वे महान तत्त्वज्ञानी और दार्शनिक महापुरुष थे। धर्म तो उनकी नस-नस में भरा हुआ था। वे महान वैरागी पुरुष थे। उनका वैराग्य बड़ा गंभीर था। पौद्‌गलिक सुख को वे रोगीला सुख समझते थे। वे कहते हैं—"जैसे पांव रोगी को खुजली अच्छी लगती है वैसे ही पुण्य रूपी कर्म रोग से पीड़ित होने के कारण ये विषयिक सुख मीठे लगते हैं। जहर चढ़ने पर नीम मीठा लगने लगता है उसी तरह पुण्योदय के कारण भोगादि अच्छे लगते हैं परन्तु वास्तव में वे जहर के समान है। वे स्थायी नहीं नाशवान हैं। आत्मिक सुख शाश्वत है वे किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। इसलिए आत्मिक सुख की कामना करनी चाहिए पौद्‌गलिक सुखों की नहीं!" स्वामीजी का तत्त्वज्ञान असाधारण था वे जन्म से ही दार्शनिक थे। जैन तत्त्वों के गंभीर ज्ञान को देखना हो तो उनकी 'नव तत्त्व' की ढालें पढ़ जाइए। तत्त्वों का जैसा सूक्ष्म विवेचन इस पुस्तक में किया गया है वैसा कम देखने में आता है। जैन शास्त्रों का वे तलस्पर्शी अध्ययन रखते थे। उनकी रचनाओं में गहरा आगम दोहन है और साथ में गम्भीर विचार और चिंतन। वे महान आध्यात्मिक योगी, अनूठे तत्त्वज्ञानी और अलौकिक संत पुरुष थे।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि स्वामीजी ने दान और दया का बड़ा अपवाद किया है—उन्होंने दान और दया को उठा दिया।

परन्तु ऐसा कहनेवाले बहुत बड़े भ्रम में हैं। स्वामीजी दया के अवतार थे। उन्होंने जिन प्रणीत दया का वास्तविक स्वरूप दिखाया था। जिसने दुनिया के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और बड़े-से-बड़े जीव को एक दृष्टि से देखा, जिसने बड़े के लिए छोटे के बलिदान का विरोध किया, जिसने पृथ्वी काय से लेकर पशुपक्षी मनुष्य सबके प्रति समान भाव से अहिंसा के पालन का उपदेश दिया वह दया को उठानेवाला कैसे हुआ? जिसने वीर भगवान की तरह ही कहा "पांच स्थावरों की हिंसा को मामूली मत समझो उनकी हिंसा दुर्गति का कारण है" उसको दया का विरोधी और हिंसा धर्मी कैसे कहा जा सकता है? वह तो दया का पुरोहित— उसका अनन्यतम पुजारी है। देखिए दया भगवती का यह अनन्य पुजारी कैसे भक्तिपूर्ण शब्दों में उसकी उपासना करता है। वह कहता है :—

जिन मारग री नींव दया ऊपर
मोजी हुवै ते पावैजी
जो हिंसा कियां धर्म हुवै तो,
जल मथियां घी आवैजी ॥
छः काय हणे हणावै नाहीं,
वले हणतां ने नहीं सरावैजी।
इसड़ी दया निरन्तर पालै,
त्यांरे तुलै कुण आवैजी ॥

स्वामीजी के उपरोक्त वक्तव्यों को देखने के बाद किसी को सन्देह करने का स्थान नहीं है कि स्वामीजी हिंसा पक्षी थे। इसके 'अनुकम्पा' सम्बन्धी विचारों को पृथक् से दिखला दिया है।

स्वामीजी के दया दान सम्बन्धी विचारों को लेकर जो स्वामीजी के समाज को भूला-भटका और आधुनिक समझते हैं वे बड़ी गल्ती करते हैं। विद्वेष वश किसी खास प्रयोजन से लिखे हुए किसी के एक पक्षीय लेख को देख कर इस प्रकार की धारणा कर लेना—किसी भी विद्वान को न्यायोचित नहीं है और "जैन आचार्यों के शासन-भेद" नामक समन्वय कारक ग्रन्थ के लिखने वाले विद्वान के लिए तो वह एक अक्षम्य अपराध भी है। यद्यपि इसमें कोई विवाद नहीं कि स्वामीजी के 'तेरापन्थ' को स्थापित हुए लगभग १८० वर्ष ही हुए हैं तथापि यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि इस समाज के विचार आधुनिक हैं। वे विचार तो उतने ही पुराने हैं जितना कि भगवान महावीर का शासन और श्वेताम्बर सूत्रीय विचारधारा। यह कोई मिथ्या गौरव की बात नहीं है परन्तु एक बहुत बड़े सत्य को प्रगट करना है कि जैन आचार और विचार की इस आधुनिक समाज ने जितनी रक्षा की है और उसे पोषण दिया है यह जिन शासन के इतिहास में एक बहुत बड़े महत्त्व की वस्तु है। स्वामीजी ने कभी किसी नए मत का प्रचार नहीं किया। उन्होंने जैन धर्म रूपी सौटंच सोने में आ मिली हुई खोट को दूर कर उसे उसके शुद्ध रूप में चमकाया था। वर्षों से टूटी हुई जैन आचार-विचार की शृङ्खला को उन्होंने अपूर्व त्याग और जीवन पर्यन्त महान विपदाओं को अदिगता पूर्वक सहन करते हुए फिर से जोड़ा था। स्वामीजी का मतवाद जिनशासन की

सम्पूर्ण विशेषताओं को लिए हुए है। उसके द्वारा जिन-शासन की जो सेवा हुई है वह भुलाई नहीं जा सकती और यदि सत्य और न्याय का गला न घोंटा जाय—तो वह जिन शासन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य अध्याय है।

स्वामीजी के दया और दान सम्बन्धी विचार मूल जैन सूत्रों के आधार और उनके पाए पर है। उन विचारों को जो भ्रमात्मक समझता है उसे जैन सूत्रों के आधार पर उसका खण्डन करना होगा। उन्हीं के आधार से उनकी भ्रमात्मकता दिखानी होगी। स्वामीजी के इस संग्रह को पढ़ने से यह तो साफ प्रगट होगा कि उनके दान दया सम्बन्धी अधिकांश विचार लब्ध प्रतिष्ठित आचार्यों के विचारों से पूर्ण सामञ्जस्य रखते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। यह स्वामीजी के विचारों से बिलकुल मिलता है। उदाहरण स्वरूप उपरोक्त आचार्य लिखते हैं :

(१) निश्चय कर कषायरूप परिणमन हुए मन वचन काय के योगों से जो द्रव्य और भाव रूप दो प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण का करना है वह अच्छी तरह निश्चय की हुई हिंसा होती है।

(२) निश्चय करके रागादि भावों का प्रगट न होना यह अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा होती है, ऐसा जैन सिद्धान्त का संक्षिप्त रहस्य है।

(३) निश्चय कर योग्य आचरण वाले सन्त पुरुष के रागादिक भावों के अनुवर्तन बिना केवल प्राण पीड़न से हिंसा कदाचित भी नहीं होती।

(४) रागादिक भावों के वश में प्रवर्तित रूप अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था में जीव मरो अथवा न मरो परन्तु हिंसा तो निश्चय कर आगे ही दौड़ती है।

(५) क्योंकि जीव कषाय भावों सहित होने से पहिले आपके ही द्वारा आपको घातता है फिर पीछे से चाहे अन्य जीवों की हिंसा होवे अथवा नहीं होवे।

(६) हिंसा से विरक्त न होना हिंसा, और हिंसारूप परिणमना भी हिंसा होती है। इसलिए प्रमाद के योग में निरन्तर प्राण घात का सद्भाव है।

(७) निश्चय कर कोई जीव हिंसा को नहीं करके भी हिंसा फल के भोगने का पात्र होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता।

(८) किसी जीव को तो थोड़ी हिंसा उदयकाल में बहुत फल को देती है। और किसी जीव को बड़ी भारी हिंसा भी उदय समय में बिल्कुल थोड़े फल को देनेवाली होती है।

(९) एक साथ मिल कर की हुई भी हिंसा इस उदयकाल में विचित्रता को प्राप्त होती है और किसी को वही हिंसा तीव्र फल देती है और किसी को वही हिंसा न्यून फल देती है।

(१०) कोई हिंसा पहिले ही फल जाती है, कोई करते ही

फलती है, कोई कर चुकने पर भी फल देती है और कोई हिंसा करने का आरम्भ करके न कर सकने पर भी फल देती है। इसी कारण से हिंसा कषाय भावों के अनुसार ही फल देती है।

(११) एक पुरुष हिंसा को करता है परन्तु फल भोगने के भागी बहुत होते हैं, इसी प्रकार हिंसा को बहुत जन करते हैं परन्तु हिंसा के फल का भोक्ता एक पुरुष होता है।

(१२) किसी पुरुष को तो हिंसा उदय काल में एक ही हिंसा के फल को देती है और किसी पुरुष को वही हिंसा बहुत से अहिंसा के फल को देती है, अन्य फल को नहीं।

(१३) निरन्तर सवर में उद्यमवान् पुरुषों को यथार्थता से हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा के फलों को जान कर अपनी शक्त्यानुसार हिंसा छोड़ना चाहिये।

(१४) जो जीव हिंसारूपी धर्म को भले प्रकार श्रवण करके भी स्थावर जीवों की हिंसा के छोड़ने को असमर्थ हैं वे भी त्रस जीवों की हिंसा को छोड़ें।

(१५) उत्सर्ग रूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग कृत-कारित अनुमोदना रूप मन-वचन-काय करके नव प्रकार की कही है और यह अपवाद रूप निवृत्ति अर्थात् विशेष त्याग अनेक रूप है।

(१६) इन्द्रियों के विषयों की न्यायपूर्वक सेवा करनेवाले श्रावकों को अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त अवशेष स्थावर (एकेन्द्री) जीवों के मारने का त्याग भी करने योग्य होता है।

(१७) परमेश्वर कथित धर्म अथवा ज्ञान सहित धर्म बहुत बारीक है। अतएव "धर्म के निमित्त हिंसा करने में दोष नहीं है," ऐसे धर्म मूढ़ अर्थात् भ्रम रूप हुए हृदय सहित हो करके कदाचित् शरीरधारी जीव नहीं मारना चाहिए।

(१८) "निश्चय करके धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है। अतएव इस लोक में उनके लिए सब ही दे देना योग्य है" इस प्रकार अविवेक से गृहीत बुद्धि को पा करके शरीरधारी जीव नहीं मारना चाहिए।

(१९) "पूजने योग्य पुरुषों के लिए बकरा आदिक जीवों के घात करने में कोई भी दोष नहीं है" ऐसा विचार करके अतिथि व शिष्ट पुरुषों के लिए जीवों का घात करना योग्य नहीं है।

(२०) "बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है" ऐसा विचार करके कदाचित् भी जङ्गम जीव का घात नहीं करना चाहिए।

(२१) "इस एक ही जीव के मारने से बहुत जीवों की रक्षा होती है" ऐसा मान कर हिंसक जीवों का भी हिंसन न करना चाहिए।

(२२) "बहुत जीवों के घाती ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे" इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिए।

(२३) और "अनेक दुःखों से पीड़ित जीव शीघ्र ही

दुःखाभाव को प्राप्त हो जावेंगे" इस प्रकार की वासनारूपी तलवार को लेकर दुःखी जीव भी नहीं मारने चाहिए।

(२४) भोजनार्थ सन्मुख आए हुए अन्य दुर्बल उदरवाले अर्थात् भूखे पुरुष को देख करके अपने शरीर का मांस देने की उत्सुकता से अपने को भी नहीं घातना चाहिए।

श्रीमदमृतचन्द्राचार्य के उपरोक्त विचारों से स्वामीजी का कहीं कोई विरोध नहीं है परन्तु अद्भुत सामञ्जस्य है। स्वामीजी ने भिन्न शब्दों में अपने चमत्कारिक ढंग से इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है- यह अनुकम्पा सम्बन्धी उनके विचारों के अवलोकन से साफ प्रगट होगा। स्वामीजी की गाथाओं में हिंसा-अहिंसा का जो सूक्ष्म विवेचन है वह कई अंशों में उपरोक्त विवेचन से भी अधिक विशेषता को लिए हुए है। यह अनुकम्पा सम्बन्धी इस संग्रह में दिए हुए अध्याय से प्रगट होगा।

स्वामीजी आदर्शवादी अहिंसक थे। उन्होंने अहिंसा के आदर्श के सम्बन्ध में भी कोई समझौता (compromise) नहीं किया था। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है 'जहाँ फूल की पांखड़ी को भी तकलीफ होती हो वहाँ जिन भगवान की आज्ञा नहीं है।' यही बात स्वामीजी ने भिन्न शब्दों में भी कही थी। उनके हृदय में दया की स्रोतस्विनी बहा करती थी और वे इतने दयालु थे कि छोटे बड़े जीवों के जीवन की आपेक्षिक (relative) कीमत लगा कर अधिक पुण्यवालों के लिए छोटे जीवों को मारने में कोई पाप नहीं है—यह जो सिद्धान्त निकाल

लिया गया था उसका वे घोर विरोध करते थे। भगवान महावीर की तरह ही छोटे-बड़े सब जीवों को आत्म समान देखने की भावना का उन्होंने बड़े न्याय संगत ढंग से प्रतिपादन किया था। वे अहिंसा के पुजारी और असाधारण प्रचारक थे।

स्वामीजी की विस्तृत जीवनी, उनके संस्मरण, उनकी चर्चाएँ, उनके दृष्टान्त आदि के अध्ययन करने पर ऊपर स्वामीजी के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है वह अक्षर-अक्षर सत्य साबित होगा। स्वामीजी की रचनाएँ जैन साहित्य की अमर कृतियाँ हैं। वे अपना असाधारण स्थान रखती हैं। सभी मुमुक्षुओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस संग्रह के साथ स्वामीजी की मूल कृतियों को भी पढ़ें और आत्मोपकार करें।

कलकत्ता,
ता० ३-८-३९

श्रीचन्द रामपुरिया

विषय-सूची

श्रीमद् आचार्य भिक्षुजी

के

विचार-रत्न

अनुकम्पा

हे पुरुष ! जिसे तू मारने की इच्छा करता है—विचार कर वह खुद तू ही है; जिस पर हुकूमत करने की इच्छा करता है—विचार कर वह खुद तू ही है; जिसे दुःख देना चाहता है—विचार कर वह खुद तू ही है; जिसे पकड़ कर रखना चाहता है—विचार कर वह खुद तू ही है; जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है—विचार कर वह खुद तू ही है। सत्पुरुष ऐसी ही भावना को रखता हुआ किसी प्राणी को नहीं मारता, न मरवाता है।

—आचाराङ्ग, श्रु० १ अ० ५।१६४

\+ + +

जिन आर्य पुरुषों ने सच्चे धर्म का निरूपण किया है उन्होंने स्पष्ट कहा है: जो प्राणी-वध करता है वह तो क्या, उसकी अनुमोदना करनेवाला भी कभी सर्व दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। जो मुमुक्षु हिंसा नहीं करता वही पूरी सावधानीवाला और अहिंसक है। जिस तरह ऊँची जमीन पर से पानी ढल जाता है वैसे ही उस मनुष्य के पापकर्म दूर ढल जाते हैं, इसलिए जगत में जो कोई स्थावर या जंगम प्राणी है उनकी मन, वाणी और काया से हिंसा न करनी चाहिए।

—उत्तराध्ययन, अ० ८।१०

१

दया महिमा

(१) दया भगवती जीवों को सुख देनेवाली है। यह मोक्ष की साई है। इसकी शरण जानेवाले शीघ्र संसार का पार पाते हैं। —अनु०[१] ९।१-२

(२) भगवान ने दया को मंगलमय, पूजनीय और भगवती कहा है। उसके प्रश्न व्याकरण सूत्र में गुणानुसार ६० नाम बतलाए हैं। —अनु० ९।२

१—अनु० अर्थात् अनुकम्पा ढाल ९, गाथा १-२। यहाँ तथा आगे जहाँ भी अनुकम्पा ढाल की साख है वह श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित "जैनतत्त्व प्रकाश" नामक पुस्तक में छपी अनुकम्पा ढाल के आधार पर है।

(३) सर्वदा, सर्व प्रकार[1] से, किसी प्रकार[2] के जीव को भय उत्पन्न न करना, अरिहन्त भगवान ने अभयदान बतलाया है—यह भी दया का ही नाम है। —अनु० ५१४

(४) सर्व प्रकार से—तीन करण और तीन योग से—सब जीवों को—त्रस (चलते-फिरते) और स्थावर (स्थिर) जीवों को—यावज्जीवन मारने का त्याग करना—उनकी हिंसा से निवृत्त होना भगवान की बतलाई हुई सम्पूर्ण दया है। ऐसी दया से पाप के दरवाजे रुकते हैं।—अनु० ५१५। ऐसे दयावान की बराबरी कौन कर सकता है। — अनु० ५१८

(५) कोई त्याग किए बिना भी हिंसा से दूर होता है तो उसके कर्मों का क्षय होता है। हिंसा दूर करने से शुभ योग का प्रवर्त्तन होता है जिससे पुण्य के पुञ्ज-के-पुञ्ज संचय होते हैं। —अनु० ५१६

(६) इस दया के पालन से पाप कर्मों का प्रवेश रुक जाता है और पुराने कर्म झड़ कर नष्ट हो जाते हैं। इन दो ही लाभों में अनन्त लाभ समा जाते हैं। ऐसी दया विरले शूर ही पाल सकते हैं। —अनु० ५१७

१—मन वचन और काया द्वारा करने, कराने और अनुमोदन रूप।

२—पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय (हलने चलने वाले प्राणी)—ये छः प्रकार के जीव जैन शास्त्रों में बतलाए गए हैं।

(७) उपरोक्त सम्पूर्ण दया ही प्रथम महाव्रत है। इस महाव्रत में सम्पूर्ण दया समाई हुई है। महाव्रत को धारण करने वाला साधु पूरी दया का पालन करता है। महाव्रत के उपरान्त और दया नहीं रह जाती। —अनु० ९।९

(८) इस दया की जो सम्यक् प्रकार से आराधना करता है और जो ऐसी ही दया के सिद्धान्त का प्रचार करता है उसको भगवान ने न्यायवादी कहा है। —अनु० ९।१०

(९) केवली भगवान, मनः पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी मतिज्ञानी, श्रुतिज्ञानी, लब्धिधारी तथा पूर्वधर ज्ञानियों ने इसी दया-तत्त्व की उपासना की है—इसकी गवाही सूत्र भरते हैं। —अनु० ९।११-१२

२

हिंसा—दुर्गति की माई

(१) श्रावक देश दया का पालन करता है। दया की उपासना, चाहे वह मर्यादित ही हो, प्रशंसनीय है। मर्यादा के बाहर हिंसा की जो छूट है उसमें कोई धर्म नहीं है। —अनु० ५।११

(२) प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व इनकी जरा भी हिंसा न करना—उससे निरन्तर निवृत्त रहना, ऐसा ही तीनों काल के तीर्थंकर कहते हैं—यह आचाराङ्ग सूत्र के चौथे अध्ययन में लिखा है। —अनु० ५।१४

(३) अरिहन्त भगवान ने कहा है कि प्राणी मात्र की हिंसा मत करो, फिर जीव किस भीति पर मारना चाहिए।

—अनु० ५।१५

(४) हिंसा करना जीवों के दुःख का कारण है और दुर्गति की साई है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में हिंसा के ३० नाम लाए हैं। —अनु० ९।१६

(५) दशवैकालिक सूत्र के छट्ठे अध्ययन में पांचों स्थावरों हिंसा को दुर्गति-दोष को बढ़ानेवाली बतलाया गया है। फिर द्मान जीव हिंसा किस तरह कर सकते हैं ? —अनु० ९।२३

(६) कई, लोगों में साधु कहलाते और भगवान के भक्त ते हैं परन्तु, हिंसा में धर्म ठहराते हैं। उनके तीन व्रत एक ही य भंग होते हैं। —अनु० ९।२९

(७) जो जीव-हिंसा में धर्म बतलाते हैं उनको छः ही र के जीवों की हिंसा लगती रहती है। तीन काल की । अनुमोदन से उनका पहिला महाव्रत चला जाता है। —अनु० ९।३०

(८) जिन भगवान ने हिंसा में धर्म नहीं बतलाया है। वान की आज्ञा पर पग देकर हिंसा में धर्म बतलाने से झूठ दोष लगता है। इस तरह निरन्तर झूठ बोलते रहने से दूसरा व्रत अलग हो जाता है। अनु० ९।३१

(९) जो जीवों की हिंसा में धर्म बतलाते हैं उन्हें जीवों प्राणों की चोरी लगती है। वे भगवान की आज्ञा को लोप तीसरे व्रत को नष्ट करते हैं। —अनु० ९।३२

(१०) जीवन और प्रशंसा के लिए, मान और पूजा के या जन्म और मृत्यु को टालने के लिए या दुःख दूर करने के

२

हिंसा–दुर्गति की खाई

(१) श्रावक देश दया का पालन करता है। दया की उपासना, चाहे वह मर्यादित ही हो, प्रशंसनीय है। मर्यादा के बाहर हिंसा की जो छूट है उसमें कोई धर्म नहीं है। —अनु० ९।१३

(२) प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व इनकी जरा भी हिंसा न करना —उससे निरन्तर निवृत्त रहना, ऐसा ही तीर्थंकर कहते हैं—यह आचाराङ्ग सूत्र के लिखा है। —अनु० ९।१४

(३) अरिहन्त भगवान ने
मत करो, फिर जीव

लिए इन छः कारणों से छः काय के जीवों की घात करना अहित का कारण है। जन्म-मरण से छुटकारा दिलाने के लिए जीव-हिंसा करना सो समकित रूपी रत्न को खोना है।

—अनु० ९।८-९

(११) इन छः कारणों से जीव को मारने से आठों कर्मों की पोटली बंधती है। इसमें मोहनीय कर्म की निश्चय ही बड़ी मार पड़ती है और नर्क में गिरना पड़ता है। —अनु० ९।७

(१२) अर्थ अनर्थ (मतलब-बेमतलब) हिंसा करने में आत्मा का महान अहित होता है। धर्म प्राप्ति के लिए हिंसा करना बोध-बीज का नाश करना है। —अनु० ९।४८

(१३) उपरोक्त छः कारणों को लेकर जो प्राणी-वध करता है, वह संसार में दुःख पाता है। इसका विस्तार आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम अध्ययन के छः उद्देशों में है। —अनु० ९।४९

(१४) धर्म हेतु प्राणी-हिंसा में पाप नहीं—ऐसी बात कहनेवाले अनार्यों को भगवान ने कहा है—"तुम लोगों ने मिथ्या देखा, मिथ्या सुना, मिथ्या माना और मिथ्या समझा है।"

—अनु० ९।५०-५१

(१५) हिंसा में धर्म बतलानेवालों को पूछा जाय कि आपको मारने में क्या है तब निश्चय ही उत्तर होगा—'पाप है'। जब खुद को मारने में पाप है तो दूसरों को मा[illegible] तरह होगा। —अनु० ९।५३-५४

(१६) प्रश्न व्याकरण

कहा है। —अनु० ६। दो० २

(५) कभी-कभी जीव-घात हो जाने पर भी हिंसा का नहीं लगता, कभी प्राणी-घात न होने पर भी हिंसा का पाप ा है। —च० वि०,¹ १।१२

(६) ईर्या समिति पूर्वक चलते हुए साधु से कदाश प्राणी हो भी जाय तो इस प्राणी-घात का अंशमात्र भी पाप नहीं ा। ईर्या समिति और जागरूकता के अभाव में प्राणीघात ो हो तो भी साधु को छः ही काय की हिंसा लगती है और का बंध होता है। —च० वि० १।३०-३१

(७) जीवों का बच जाना कोई दया नहीं है और न ों का मर जाना मात्र हिंसा है। मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करना, न करवाना और न करते हुओं से सह होना—यही दया है। जो इस प्रकार हिंसा से निवृत्त है वह यान है—नहीं मारनेवाला है; जो निवृत्त नहीं है—वह हिंसा-

---

¹ अर्थात् चतुर विचार की ढाल १, गाथा १२ यहाँ तथा आगे जहाँ भी इन ढालों की साख है वह श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'जैनतत्त्व प्रकाश' नामक पुस्तक में छपी हुई ढालों से है।

३

हिंसा-अहिंसा विवेक

(१) दया-दया सब कोई चिल्लाते हैं—दया ही वास्त
र्म है, यह ठीक है—परन्तु जो सच्ची दया को जान कर उस
ालन करता है मोक्ष उसी के नजदीक होता है।

—अनु० ८। दोहा

(२) दया प्रथम व्रत है और साधु तथा श्रावक दोन
लिए समान रूप से प्रधान धर्म है। इससे नए पापों का सं
रुकता है और पुराने पाप झड़ कर दूर होते हैं।

—अनु० ८। दो०

(३) जिन भगवान ने मन, वचन और काया इनमें से
दो या सब के द्वारा छः प्रकार के जीवों में से किसी जीव

४

अहिंसा किनके प्रति ?

) 'हिंसा नहीं करना'—इस बात के सामने आते ही
ता है—'किस की हिंसा नहीं करना ?'

) इसका सरल उत्तर है—सब जीव, सत्त्व, प्राणी
ों की। अहिंसा के सम्पूर्ण और सम्यक् पालन के
ों की जानकारी होना आवश्यक है।

) जीवों की जानकारी बिना दया पल नहीं सकती
भगवान ने कहा है—'पढमं नाणं तओ दया' अर्थात्
ीवों का ज्ञान है और फिर दया।

) भगवान ने ज्ञेय तत्त्वों में जीव को सर्व प्रथम स्थान
। जीवों की पहचान के लिए छः जीव-निकाय का
ीर स्पष्ट वर्णन किया है।

है, मारनेवाला है। जो मारनेवाला है हिंसा उसी को होती
ो नहीं मारनेवाला है यह तो दया-रूपी गुण-रत्न का स्थान है।
—अनु० ७।११

(८) संसार में सर्वत्र हिंसा का चक्र चल रहा है, बलवान
ल को मार खाता है और वह अपने से बलवान का शिकार
ा है। अनु० १२।१४

(९) मन, वचन और काया से किसी को मारने, मरवाने
मारने को भला समझने- इन तीनों में पाप है। कोई
आँखों के सामने मर रहा है इसी से किसी को पाप नहीं
ा है। देखनेवाले को पाप का सन्ताप बतलाना मूर्ख गुरुओं
काम है। —अनु० ४। दो० २

(१०) साधु कभी किसी प्राणी को किसी प्रकार से नहीं
ता हुआ अपने ग्रहण किए हुए व्रत की रक्षा करता है, जन्म
आधि-व्याधि से पीड़ित संसार के नाना प्राणियों की तक
ों के लिए वह जवाबदेह नहीं रह जाता। अनु० ८।१४

(११) भय दिखाकर, जोर-जबरदस्ती कर, लोभ-लालच
या ऐसे ही अन्य उपायों से दया पलवाना कोई दया धर्म
है। यह तो दूसरे के लिए अपनी आत्मा का पतन करना
या हृदय की चीज है वह बाहर से ठूसी नहीं जा सकती।

४

अहिंसा किसके प्रति ?

(१) 'हिंसा नहीं करना'—इस बात के सामने आते ही
न उठता है—'किस की हिंसा नहीं करना ?'

(२) इसका सरल उत्तर है— सब जीव, सत्त्व, प्राणी
र भूतों की। अहिंसा के सम्पूर्ण और सम्यक् पालन के
र जीवों की जानकारी होना आवश्यक है।

(३) जीवों की जानकारी बिना दया पल नहीं सकती
लिए भगवान ने कहा है—'पढमं नाणं तओ दया' अर्थात्
ले जीवों का ज्ञान है और फिर दया।

(४) भगवान ने ज्ञेय तत्त्वों में जीव को सर्व प्रथम स्थान
ा है। जीवों की पहचान के लिए छः जीव-निकाय का
म और स्पष्ट वर्णन किया है।

(५) जिन भगवान की अहिंसा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर तथा चलते-फिरते प्राणियों तक ही सीमित नहीं है; उनकी अहिंसा के दायरे में छोटे-बड़े, दृश्य-अदृश्य, चलते-फिरते और स्थिर सभी प्राणी समा जाते हैं।

(६) मनुष्य, पशु, मक्खी, मच्छर, चींटी, चींटे, लट और गिडोले ही नहीं, परन्तु वृक्ष, लता, पान, फल, फूल, जल, अग्नि वायु, माटी आदि भी सजीव तत्त्व हैं ऐसा भगवान ने कहा है।

(७) सब जीवों के प्रति संयम रूपी अहिंसा को उत्तम जानकर भगवान महावीर ने व्रतों में प्रथम स्थान में अहिंसा का वर्णन किया है।

(८) जगत के छोटे या बड़े सर्व जीव समान रूप से जीने की इच्छा रखते हैं। कोई भी प्राणी मृत्यु की इच्छा नहीं करता। इसलिए भयंकर और पापरूप सर्व प्राणियों की हिंसा से निर्ग्रन्थ मुनि को सावधानी पूर्वक बचना चाहिए।

(९) संयमी साधक इस लोक में जो भी त्रस (चलते-फिरते) और स्थावर (स्थिर) जीव हैं उनकी हिंसा से प्रत्याख्यान पूर्वक निवृत्त होकर —उन्हें जान में या अजान में नहीं मारता।

(१०) समाधिवंत साधु, पृथ्वी जीव, जलजीव, अग्निजीव वायुजीव, वनस्पति जीव और त्रसजीव —इनकी मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करता, न कराता है और न करते हुए से सम्मत होता है। छवों प्रकार के जीवों की हिंसा दुर्गति को [illegible] :ती है। उसका त्याग करना चाहिए।

(११) कई प्राणी चलते-फिरते हैं और कई स्थिर हैं। ए
अवस्था में होना या दूसरी में होना कर्मों के अधीन है। जी
कभी त्रस होता है और कभी स्थावर। त्रस हो या स्था
दुःख सब को अप्रिय है इसलिए तू किसी भी प्राणी को मत म
—उसकी हिंसा से निवृत्त हो।

(१२) अहिंसा केवल मित्रों के प्रति या निर्दोष प्राणि
के प्रति ही नहीं होनी चाहिए परन्तु जो शत्रु हों और हमें नु
शान पहुंचाते हों वे तो और भी अधिक दया के पात्र हैं।

(१३) भगवान ने कहा है—'सर्व जीवों के प्रति, फिर च
वे मित्र हों या शत्रु, समान भाव से सयम रखना और जीव
पर्यन्त प्राणीमात्र को कष्ट देने से दूर रहना--यह अहिंसा व
दुष्कर धर्म है।'

(१४) डांस और मच्छरों को भय पीड़ित मत करो, डंक भ
मारें तो भी उन्हें न मारो, लोही और मांस को भी चूट खाय तो भ
उनको न मारो, पर सब सहन करो ऐसी भगवान की आज्ञा है

(१५) साधु पुरुष, कोई मारने को तैय्यार हो तो भी, को
नहीं करता, न उसकी बुरी सोचता है। संयमी और जितेन्द्रि
साधु को कोई मारता हो तो उसे सोचना चाहिये—'यह मे
आत्मा को नहीं मार सकता'।

(१६) अहिंसा केवल सुख के समय ही नहीं परन्तु प्रा
संकट के समय भी उपासना की चीज है।

(१७) भूख की मार से शरीर अस्थिपिंजर हो गया हो त

२

भी क्षुधा-शांति के लिए फल न तोड़ना या तुड़वाना चाहिए, न अन्न पकाना चाहिये और न पकवाना चाहिये।

(१८) जंगल आदि निर्जन स्थानों में तृषा से प्राण व्याकुल हो रहे हों तो भी और मुंह सूख गया हो तो भी साधु सचित्त जल न पीवे।

(१६) शरद ऋतु में रहने को स्थान न हो और तन ढकने को वस्त्र न हो तो भी शीत की सिहर को दूर करने के लिए अग्नि जलाने तक का विचार न करना चाहिये।

(२०) सूर्यताप से अत्यन्त व्याकुल होने पर भी मर्यादा प्रिय साधु स्नान की इच्छा नहीं करता, शरीर को जल से स्पर्श नहीं करता, और न पंखादि से हवा लेता है।

(२१) इस तरह अहिंसा का सिद्धान्त बहुत व्यापक है। केवल मनुष्य या बड़े पशु ही नहीं परन्तु सूक्ष्म प्राणियों की भी हिंसा न करनी चाहिए; केवल मित्रों के प्रति ही नहीं परन्तु बड़े-से-बड़े वैरी के प्रति भी अहिंसा का भाव रहना चाहिए; अनुकूल परिस्थिति में ही नहीं परन्तु विषम-से-विषम परिस्थिति में भी अहिंसा को नहीं छोड़ना चाहिए; केवल शरीर से नहीं परन्तु मन और वाणी से भी हिंसा से निवृत्त रहना चाहिये; स्वयं ही हिंसा का त्याग न करे पर दूसरों से हिंसा करवाने का त्याग करे और कोई हिंसा करता हो तो उसे अच्छा न समझे। सर्वदा, सर्व प्रकार से, सर्व जीवों की हिंसा न करना ही जैन धर्म की अहिंसा का रहस्य है।

५

दया उपास्य क्यों ?

दया और जीव-रक्षा का सम्बन्ध

(१) हिंसा सब पापों में बड़ा पाप है और अहिंसा सब धर्मों में बड़ा धर्म; हिंसा से कर्मों का लेप होकर ज्ञानमय सच्चिदानन्दमय आत्मा पतन को प्राप्त होती है और अहिंसा से कर्म के बन्धन टूट कर आत्मा स्वतन्त्र होती है - अपने सहज स्वभाव को प्राप्त करती है।

(२) अहिंसा पापों को धोकर आत्मा को उज्ज्वल बनाती है इसीलिए आदरणीय है आत्म-कल्याण और स्वरूप-साधना है, और पर पदार्थ -ग्रहण

(३) भगवान के शब्दों में कहा जाय तो अहिंसा आदि गुणों को उत्तरोत्तर विकसित करने वाला प्राणी शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह क्रमशः परिपूर्णता को प्राप्त करता है। हिंसा तथा असत्य आदि (जो कि हिंसा के ही रूप हैं) के आचरण से जीव भारी होता है। ऐसा जीव मरण पाकर अधोगति को जाता है। अहिंसा तथा अहिंसा के भिन्न रूप सत्यादि के आचरण द्वारा हिंसा आदि के कुसंस्कारों को क्रमशः कम करता है। अन्त में जब ये कुसंस्कार निर्मूल हो जाते हैं तो आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर अजर-अमर होता है।

(४) इस प्रकार अहिंसा आत्म-शुद्धि का अनन्य साधन है; जिस प्रकार उच्च स्थान से जल ढल कर नीचे गिर पड़ता है उसी प्रकार अहिंसा से निरन्तर भावित होने वाले प्राणी के कर्म ढल जाते हैं। अहिंसा की उपासना का ध्येय केवल आत्म शुद्धि ही है। आत्मा की पवित्रता में सहायक होने से अहिंसा उपास्य है।

(५) पर कई दार्शनिकों का कहना है कि अहिंसा के आचरण का मूलोद्देश्य आत्मशुद्धि बतलाना ठीक नहीं। अहिंसा जीवों की रक्षा के द्वारा आत्मशुद्धि करती है अतः जीव-रक्षा करने के खास उद्देश्य से ही अहिंसा-व्रत स्वीकार किया जाता है।

(६) उनका कहना है कि अहिंसा से आत्मशुद्धि होती है पर वह तो कार्य मात्र है इसका निमित्त जीवों की रक्षा होना है। इसलिए अहिंसा अङ्गीकार का मूल लक्ष्य जीव-रक्षा है।

रहता है इस पर भी अपने-अपने निमित्त से जीव मरते ही रहते हैं उसका दायी यह नहीं कहला सकता।

(१०) पापों से बचने और जीव-रक्षा का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। संलेखना में प्राणों का वियोग निश्चित रहता है फिर भी क्या अहिंसा का पूरा पालन नहीं होता ? हम शुद्ध खाते-पीते हैं—हमारे जीवन की रक्षा होती है परन्तु यह अहिंसा है—क्या ऐसा कहा जा सकता है ?

(११) अहिंसा से समभाव का विकाश होता है, चित्त वृत्तियों का संयम होता है, क्रोध आदि कषायों से निवृत्ति होती है जिससे नए कर्मों का प्रवेश नहीं होता और पुराने कर्मों का क्षय होता है इसलिये अहिंसा आदरणीय है। पाप से बचने का अविना भाव सम्बन्ध जीव-रक्षा के साथ नहीं परन्तु हृदय की अहिंसा मय भावनाओं के साथ है—हिंसा से निवृत होने के साथ है।

(१२) भगवान ने हिंसा से प्रत्याख्यान पूर्वक निवृत्त होने को प्रथम व्रत बतलाया है और कर्मों को रोकने के साधनों में खास स्थान दिया है।

(१३) यह कहना गलत है कि जीव बचे रहे तभी दया निपजी। जो ऐसा कहते हैं वे अहिंसा के प्रयोजन और परिणाम के पार्थक्य को समझने में भूल करते हैं। जीव-रक्षा अहिंसा का परिणाम—फल हो सकता है—होगा ही ऐसा बात नहीं है—पर उसका प्रयोजन नहीं है।

(१४) वृष्टि होती है उससे कृषि हरी भरी हो सकती है

परन्तु वर्षा कृषि के लिए ही होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता। नदी के जल का स्रोत नदी के किनारों पर बसने वाले प्राणियों को लाभ का कारण हो सकता है, जलवायु को स्वस्थ कर सकता है, अगल बगल की भूमि को उपजाऊ बना सकता है और लाखों करोड़ों रूपये के व्यापार में सहायक हो सकता है परन्तु क्या नदी इन्हीं उद्देश्यों से बहती है ? क्या उसके जीवन की साधना यही कही जा सकती है ?

(१५)—(क) इसी प्रकार अहिंसा का प्रयोजन हिंसा रूपी चित्त–मल को दूर करना है; जीवों की रक्षा उसका प्रयोजन–लक्ष्य नहीं है। अहिंसा के आचारण से शांति का वातावरण उत्पन्न हो सकता है—जीवों की रक्षा भी हो सकती है परन्तु इन्हें अहिंसा के आनुषंगिक फल समझने चाहिये—उसका खास प्रयोजन नहीं।

(१५)—(ख) व्रतों को अङ्गीकार कर साधु कहता है—'मैं छः व्रतों को अपनी आत्मा के हित के लिये अंगीकार कर विहरता हूं'—ऐसा दशवैकालिक सूत्र में साफ उल्लेख है, देख कर निर्णय करो।

(१६) हे भव्य ! तुम वृक्षादि को न काटने का व्रत लेते हो, वृक्षों की रक्षा होती है; तलाव, सर आदि न सुखाने का नियम करते हो, तलाव जल से परिपूर्ण रहता है; लड्डू आदि मिठाई न खाने का प्रत्याख्यान करते हो, मिठाई बचती है, दव लगाने, गांव जलाने आदि सावद्य कार्यों का त्याग करते हो इससे गांव, जंगल आदि की रक्षा होती है। तुम चोरी करने का त्याग

करते हो, दूसरों के धन की रक्षा होती है। परन्तु वृक्ष, तलाव, लड्डू, गायादि के इस प्रकार बचाने में तुम्हें धर्म नहीं है, न धन की रक्षा पर धनी के राजी होने से। तुम्हारा धर्म इन सब से परे—तुम्हारे आत्म संयम तुम्हारी पापों से विरति में है। तुम व्रत ग्रहण कर अव्रत को दूर करते हो, आते हुए कर्मों को रोकते हो, वैराग्य से आत्मा को भावित करते हो इसी से तुम्हें धर्म है -तुम्हारी आत्मा का निस्तार है।

(१७) इतने पर भी समझ में नहीं आता तो एक उदाहरण और सुनो। मानो कोई एक स्त्री किसी पुरुष से प्रेम करती हो। पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लेता हो। उसके व्रत ग्रहण से उसकी स्त्री मोह राग से कूएँ में पड़ कर आत्म-हत्या कर लेती हो। ऐसी हालत में क्या उस स्त्री की आत्म हत्या से उस पुरुष को पाप होगा ? यदि स्त्री के मर जाने का पाप पुरुष को हुआ नहीं मानते तो तलाव के भरे रहने और वृक्षों के कायम रहने आदि से भी प्रत्याख्यान करनेवाले को धर्म मत समझो। पापों से विरत होना खुद ही धर्म है। धर्म होना, दूसरे जीव की रक्षा होने या उसको सुख पहुंचने पर आधारित नहीं परन्तु आत्म-सयम—प्रत्याख्यान पूर्वक पापों से विरत होने में है। —अनु० ५।१-१५

(१८) बहुत सी हिंसाएँ ऐसी हैं, जिनमें प्रत्यक्ष प्राणीवध नहीं है, फिर भी उनका त्याग करने पर ही कोई सर्व व्रती होता है। क्योंकि जीव मरे या न मरे हिंसा स्वयं ही बुरी चीज है अतः हर हालत में त्याज्य है। जैसेः—मानसिक हिंसाएँ !

(११) कई प्राणी चलने-फिरते हैं और कई स्थिर हैं। एक अवस्था में होना या दूसरी में होना कर्मों के अधीन है। जीव कभी त्रस होता है और कभी स्थावर। त्रस हो या स्थावर दुःख सब को अप्रिय है इसलिए तू किसी भी प्राणी को मत मार —उसकी हिंसा से निवृत्त हो।

(१२) अहिंसा केवल मित्रों के प्रति या निर्दोष प्राणियों के प्रति ही नहीं होनी चाहिए परन्तु जो शत्रु हों और हमें नुक़शान पहुंचाते हों वे तो और भी अधिक दया के पात्र हैं।

(१३) भगवान ने कहा है 'सर्व जीवों के प्रति, फिर चाहे वे मित्र हों या शत्रु, समान भाव से संयम रखना और जीवन पर्यन्त प्राणीमात्र को कष्ट देने से दूर रहना यह अहिंसा का दुष्कर धर्म है।'

(१४) डांस और मच्छरों को भय पीड़ित मत करो, डंक भी मारें तो भी उन्हें न मारो, लोही और मांस को भी चूट खाय तो भी उनको न मारो, पर सब सहन करो ऐसी भगवान की आज्ञा है।

(१५) साधु पुरुष, कोई मारने को तय्यार हो तो भी, कोप नहीं करता, न उसकी बुरी सोचता है। संयमी और जितेन्द्रिय साधु को कोई मारता हो तो उसे सोचना चाहिये 'यह मेरी आत्मा को नहीं मार सकता'।

(१६) अहिंसा केवल सुख के समय ही नहीं परन्तु प्राण संकट के समय भी उपासना की चीज है।

(१७) भूख की मार से शरीर अस्थिपिंजर हो गया हो तो

भी क्षुधा-शांति के लिए फल न तोड़ना या तुड़वाना चाहिए, न अन्न पकाना चाहिये और न पकवाना चाहिये।

(१८) जंगल आदि निर्जन स्थानों में तृपा से प्राण व्याकुल हो रहे हों तो भी और मुँह सूख गया हो तो भी साधु सचित जल न पीवे।

(१९) शरद ऋतु में रहने को स्थान न हो और तन ढकने को वस्त्र न हो तो भी शीत की सिहर को दूर करने के लिए अग्नि जलाने तक का विचार न करना चाहिये।

(२०) सूर्यताप से अत्यन्त व्याकुल होने पर भी मर्यादा प्रिय साधु स्नान की इच्छा नहीं करता, शरीर को जल से स्पर्श नहीं करता, और न पंखादि से हवा लेता है।

(२१) इस तरह अहिंसा का सिद्धान्त बहुत व्यापक है। केवल मनुष्य या बड़े पशु ही नहीं परन्तु सूक्ष्म प्राणियों की भी हिंसा न करनी चाहिए; केवल मित्रों के प्रति ही नहीं परन्तु बड़े-से-बड़े वैरी के प्रति भी अहिंसा का भाव रहना चाहिए; अनुकूल परिस्थिति में ही नहीं परन्तु विपम-से-विपम परिस्थिति में भी अहिंसा को नहीं छोड़ना चाहिए; केवल शरीर से नहीं परन्तु मन और वाणी से भी हिंसा से निवृत रहना चाहिये; स्वयं ही हिंसा का त्याग न करे पर दूसरों से हिंसा करवाने का त्याग करे और कोई हिंसा करता हो तो उसे अच्छा न समझे। सर्वदा, सर्व प्रकार से, सर्व जीवों की हिंसा न करना ही जैन धर्म की अहिंसा का रहस्य है।

५

दया उपास्य क्यों ?

दया और जीव-रक्षा का सम्बन्ध

(१) हिंसा सब पापों में बड़ा पाप है और अहिंसा सब धर्मों में बड़ा धर्म; हिंसा से कर्मों का लेप होकर ज्ञानमय सच्चिदानन्दमय आत्मा पतन को प्राप्त होती है और अहिंसा से कर्म के बन्धन टूट कर आत्मा स्वतन्त्र होती है अपने सहज स्वभाव को प्राप्त करती है।

(२) अहिंसा पापों को धोकर आत्मा को उज्ज्वल बनाती है इसीलिए आदरणीय है। अहिंसा में आत्म-कल्याण और स्वरूप-साधना है, हिंसा में संसार-भ्रमण और पर पदार्थ-ग्रहण है।

(३) भगवान के शब्दों में कहा जाय तो अहिंसा आदि गुणों को उत्तरोत्तर विकसित करने वाला प्राणी शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह क्रमशः परिपूर्णता को प्राप्त करता है। हिंसा तथा असत्य आदि (जो कि हिंसा के ही रूप हैं) के आचरण से जीव भारी होता है। ऐसा जीव मरण पाकर अधोगति को जाता है। अहिंसा तथा अहिंसा के भिन्न रूप सत्यादि के आचरण द्वारा हिंसा आदि के कुसंस्कारों को क्रमशः कम करता है। अन्त में जब ये कुसंस्कार निर्मूल हो जाते हैं तो आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर अजर-अमर होता है।

(४) इस प्रकार अहिंसा आत्म-शुद्धि का अनन्य साधन है; जिस प्रकार उच्च स्थान से जल ढल कर नीचे गिर पड़ता है उसी प्रकार अहिंसा से निरन्तर भावित होने वाले प्राणी के कर्म ढल जाते हैं। अहिंसा की उपासना का ध्येय केवल आत्म शुद्धि ही है। आत्मा की पवित्रता में सहायक होने से अहिंसा उपास्य है।

(५) पर कई दार्शनिकों का कहना है कि अहिंसा के आचारण का मूलोद्देश्य आत्मशुद्धि बतलाना ठीक नहीं। अहिंसा जीवों की रक्षा के द्वारा आत्मशुद्धि करती है अतः जीव-रक्षा करने के खास उद्देश्य से ही अहिंसा-व्रत स्वीकार किया जाता है।

(६) उनका कहना है कि अहिंसा से आत्मशुद्धि होती है पर वह तो कार्य मात्र है इसका निमित्त जीवों की रक्षा होना है। इसलिए अहिंसा अङ्गीकार का मूल लक्ष्य जीव-रक्षा है।

रहता है उस पर भी आने-जाने निमित्त से और मरते ही रहते हैं उसका दोषी वह नहीं कहला सकता।

(१०) पापों से बचने और जीव-रक्षा का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। संलेखना में प्राणों का वियोग निश्चित रहता है फिर भी क्या अहिंसा का पूरा पालन नहीं होता? हम स्वयं शुद्ध खाते-पीते हैं हमारे जीवन की रक्षा होती है परन्तु यह अहिंसा है क्या ऐसा कहा जा सकता है?

(११) अहिंसा से समभाव का विकास होता है, चित्त वृत्तियों का संयम होता है, क्रोध आदि कषायों से निवृत्ति होती है जिससे नए कर्मों का प्रवेश नहीं होता और पुराने कर्मों का क्षय होता है इसलिये अहिंसा आचरणीय है। पाप से बचने का अविनाभाव सम्बन्ध जीव-रक्षा के साथ नहीं परन्तु हृदय की अहिंसामय भावनाओं के साथ है—हिंसा से निवृत्त होने के साथ है।

(१२) भगवान ने हिंसा से प्रत्याख्यान पूर्वक निवृत्त होने को प्रथम व्रत बतलाया है और कर्मों को रोकने के साधनों में खास स्थान दिया है।

(१३) यह कहना गलत है कि जीव बचे रहे तभी दया निपजी। जो ऐसा कहते हैं वे अहिंसा के प्रयोजन और परिणाम के पार्थक्य को समझने में भूल करते हैं। जीव-रक्षा अहिंसा का परिणाम—फल हो सकता है—होगा ही ऐसी बात नहीं है—पर उसका प्रयोजन नहीं है।

(१४) वृष्टि होती है उससे कृषि हरी भरी हो सकती है

परन्तु वर्षा कृषि के लिए ही होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता। नदी के जल का स्रोत नदी के किनारों पर बसने वाले प्राणियों को लाभ का कारण हो सकता है, जलवायु को स्वस्थ कर सकता है, अगल बगल की भूमि को उपजाऊ बना सकता है और लाखों करोड़ों रूपये के व्यापार में सहायक हो सकता है परन्तु क्या नदी इन्हीं उद्देश्यों से बहती है ? क्या उसके जीवन की साधना यही कही जा सकती है ?

(१५)—(क) इसी प्रकार अहिंसा का प्रयोजन हिंसा रूपी चित्त—मल को दूर करना है; जीवों की रक्षा उसका प्रयोजन—लक्ष्य नहीं है। अहिंसा के आचारण से शांति का वातावरण उत्पन्न हो सकता है—जीवों की रक्षा भी हो सकती है परन्तु इन्हें अहिंसा के आनुषंगिक फल समझने चाहिये—उसका खास प्रयोजन नहीं।

(१५)—(ख) व्रतों को अङ्गीकार कर साधु कहता है—'मैं छः व्रतों को अपनी आत्मा के हित के लिये अंगीकार कर विहरता हूं'—ऐसा दशवैकालिक सूत्र में साफ उल्लेख है, देख कर निर्णय करो।

(१६) हे भव्य! तुम वृक्षादि को न काटने का व्रत लेते हो, वृक्षों की रक्षा होती है; तलाव, सर आदि न सुखाने का नियम करते हो, तलाव जल से परिपूर्ण रहता है; लड्डू आदि मिठाई न खाने का प्रत्याख्यान करते हो, मिठाई बचती है, दव लगाने, गांव जलाने आदि सावद्य कार्यों का त्याग करते हो इससे गांव, जंगल आदि की रक्षा होती है। तुम चोरी करने का त्याग

करते हो, दूसरों के धन की रक्षा होती है। परन्तु वृक्ष, तलाव, लड्डू, गांवादि के इस प्रकार बचाने से तुम्हें धर्म नहीं है, न धन की रक्षा पर धनी के राजी होने से। तुम्हारा धर्म इन सब से परे—तुम्हारे आत्म संयम—तुम्हारी पापों से विरति में है। तुम व्रत ग्रहण कर अव्रत को दूर करते हो, आते हुए कर्मों को रोकते हो, वैराग्य से आत्मा को भावित करते हो इसी से तुम्हें धर्म है—तुम्हारी आत्मा का निस्तार है।

(१७) इतने पर भी समझ में नहीं आती तो एक उदाहरण और सुनो। मानो कोई एक स्त्री किसी पुरुष से प्रेम करती हो। पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लेता हो। उसके व्रत ग्रहण से उसकी स्त्री मोह राग से कूए में पड़ कर आत्म-हत्या कर लेती हो। ऐसी हालत में क्या उस स्त्री की आत्म हत्या से उस पुरुष को पाप होगा ? यदि स्त्री के मर जाने का पाप पुरुष को हुआ नहीं मानते तो तलाव के भरे रहने और वृक्षों के कायम रहने आदि से भी प्रत्याख्यान करनेवाले को धर्म मत समझो। पापों से विरत होना खुद ही धर्म है। धर्म होना, दूसरे जीव की रक्षा होने या उसको सुख पहुंचने पर आधारित नहीं परन्तु आत्म-संयम—प्रत्याख्यान पूर्वक पापों से विरत होने में है। —अनु० ५।१-१५

(१८) बहुत सी हिंसाएं ऐसी हैं, जिनमें प्रत्यक्ष प्राणीवध नहीं है, फिर भी उनका त्याग करने पर ही कोई सर्व व्रती होता है। क्योंकि जीव मरे या न मरे हिंसा स्वयं ही बुरी चीज है अतः हर हालत में त्याज्य है। जैसे:—मानसिक हिंसाएं !

(ख)

दया का उपदेश क्यों ?

(१) कई दार्शनिक ऐसा कहते हैं कि हम अहिंसा का उपदेश छः काय की रक्षा के लिए ही देते हैं। एक जीव को समझा देने से बहुत जीवों का क्लेश दूर हो जाता है। परन्तु ऐसा कहनेवाले अज्ञानी हैं।

—अनु० ५।१६

(२) घट में ज्ञान डाल कर हिंसा छुड़वाने में धर्म है परन्तु जीवों के जीने की वांछा करने से कर्म नहीं कटते।

देखो ये दो अंगुलियां हैं—एकको बकरा मान लो और दूसरी को राजपूत मान लो। इन दोनों में पाप का भागी कौन होता है—कौन डूबता है—मारनेवाला राजपूत या मरनेवाला बकरा? इनमें से कौन नर्क में जायगा? राजपूत ही नर्क में जायगा, क्योंकि वह ही बकरे को मारता है, यह प्रत्यक्ष है। इसीलिए सन्त पुरुष राजपूत को पाप में गिरने से बचने का उपदेश देते हैं, परन्तु बकरे के जीने की वाञ्छा नहीं करते। एक साहुकार के दो पुत्र हैं। एक सपूत है और दूसरा कपूत। एक हर किसी से ऋण लेता फिरता है और दूसरा पुराने कर्ज को चुकाता है। अब बतलाओ पिता किसको रोकेगा—ऋण करनेवाले उस कपूत को या कर्ज चुकानेवाले सपूत को। पिता कपूत को ही रोकेगा सपूत को तो नहीं ही।

पिता की जगह साधु को समझो, बकरे और राजपूत को क्रमशः सपूत और कपूत पुत्र समझो। राजपूत कर्मरूपी कर्ज को माथे कर रहा है, बकरा संचित कर्मों को भोग रहा है—किए हुए कर्मरूपी कर्ज को चुका रहा है। साधु राजपूत को उपदेश देगा कि कर्मरूपी कर्ज क्यों करते हो—इससे तुम्हें बहुत गोते खाने पड़ेंगे—पर भव में दुःख पाना पड़ेगा—इस प्रकार वह राजपूत को तिरना चाहता है—तारने के लिए उपदेश देता है परन्तु वह बकरे के जीने की वाञ्छा नहीं करेगा—उसे कर्म रूपी कर्ज को चुकाते रहने देगा।

(३) इस तरह अहिंसा का उपदेश जीवों को बचाने के अभिप्राय से नहीं परन्तु पाप में पड़ते हुओं को उससे निकालने के लिए है। साधु उपदेश देकर अज्ञानी प्राणियों को ज्ञानी करता है—जीवादि का जानकार करता है—मिथ्यात्वी को समकिती करता है—असंयती को संयती करता है तथा जीवन में उत्तम तपस्या को लाता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूपी धर्मों का प्रचार कर अपना आत्मोद्धार करने तथा इनको दूसरों के घट में उतार कर उनकी पापों से रक्षा कर उनके सर्व दुःखों का अन्त ला उन्हें संसार-समुद्र से पार करने के लिए अहिंसा का उपदेश देता है। साधु खुद तिरने और दूसरों को तारने, इस तरह दोनों का खेवा पार करने के लिए अहिंसा धर्म का उपदेश देता है।

—अनु० ५।२०-२१

(१) कई दार
जीवों की रक्षा करते हैं, अहिंसा का उपदेश देकर जीव-रक्षा कराते हैं, इसलिए जीवों के प्रति हमारा बड़ा उपकार है—हम परोपकारी हैं।' ज्ञानी कहते हैं—'तीन प्रकार और तीन तरह से हिंसा से निवृत्त होकर तुमने अपनी आत्मा को बचाया है। यह तुम्हारे प्रति तुम्हारा उपकार है—स्वदया है; तुमने उपदेश देकर दूसरों को हिंसा से निवृत्त किया—उनकी आत्मा को पाप से बचाया यह तुम्हारा उनके प्रति उपकार है—पर दया है। परन्तु इसके सिवा और कोई प्राणी नहीं है कि जिसके प्रति तुम्हारा उपकार है।

(२) तुम्हारे जीवन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी धर्म का पूरा-पूरा वास है—तुम पूर्ण संयमी हो इसलिए तुम्हारा तुम्हारी आत्मा के प्रति पूरा उपकार है; इन धर्मों को दूसरों के जीवन में उतार कर तुम उनको संसार से पार पहुंचाते हो—उनको तारते हो—इसलिए उनके प्रति तुम्हारा उपकार है।

—अनु० ५।६

सारा संसार दुःखों से जल रहा है। जन्म, जरा और मृत्यु जीवों के महान दुःख हैं। तुम हिंसादि पापों से निवृत्त हो तथा दूसरों को निवृत्त कर अपने को तथा दूसरों को इन दुःखों से

शुद्ध होने के मार्ग पर स्थिर करते हो इसलिए तुम तिरन-तारन हो। परन्तु तुम्हारी अहिंसा के फल स्वरूप जीवन का लाभ पाने वाले जीवों के प्रति तुमने कौन-सी भलाई की है कि तुम उनके उपकारक होने का दावा करते हो?'

(३) साधारण तौर पर छः ही काय के जीवों के क्लेश दूर होते हैं उन्हें साता पहुंचती है—ऐसा कहना अन्यतीर्थियों को ही संगत हो सकता है। जो ऐसा कहते हैं उन्होंने जैन धर्म का असली भेद नहीं पाया। अशुभ कर्मों के उदय से वे भ्रम में भूले हुए हैं। —अनु॰ ५।१०

(४) जीव अनादि काल से जी रहा है, यह जो उसकी मृत्यु मालूम देती है यह पर्याय परिवर्तन—शरीर परिवर्तन मात्र है। जीव शुभाशुभ भोगता हुआ जन्म-जन्मान्तर करता रहता है परन्तु इस जीने से उसकी कोई भलाई नहीं हुई। जन्म-जरा-मृत्युरूपी दुःखों से निस्तार करनेवाले संवर और निर्जरा—ये दो ही धर्म हैं। जिन जीवों को तुमने बचाया उनके कौन-से ये उपाय हाथ लग गये कि उन्हें सुख पहुंचा कहा जाय।

—अनु॰ ७।६०;५।१८

(५) जो छः ही काय की हिंसा करने का त्याग करता है उसके अशुभ पाप कर्म दूर होते हैं। उसके जन्म-मरण के संताप मिटते हैं इसलिये ज्ञानी उनको सुख हुआ समझते हैं। —अनु॰ ५।१९ साधु उसको मोक्ष में स्थिर वास कराता है इसलिए उसका तारक है। वह खुद भी तिरता है। पर जो छः काय के जीव

बचते हैं वे तो पीछे भूलते ही रह जाते हैं—उनकी आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता। —अनु० ५।२० आगे अनन्त अरिहन्त हो चुके हैं वे खुद तीरे हैं। उनके उपदेश को जीवन में उतारने वाले भी तिरे परन्तु बाकी के छः काय जीवों के तो जरा भी सुख न हुआ। —अनु० ५।२१

(६) एक असंयमी प्राणी खुद अपने जीवन की रक्षा करता है; दूसरा, असंयमी प्राणी की जीवन-रक्षा करता है; तीसरा, उसका जीना अच्छा समझता है—इन तीनों में कौन सिद्ध-गति को प्राप्त करेगा ? —अनु० ५।२२

जो असंयमी खुद कुशल रहता है उसके पापों से अविरति नहीं घटती तो जो रक्षा का उपाय कराता है उसके भी ऐसा ही समझो। जो असयमी जीवन की अनुमोदन करता है उसके भी व्रत नहीं होता, फिर ये तीनों किस तरह मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे ? —अनु० ५।२३

असयमी का जीना, उसको जीवाना और उसका जीना भला समझना ये तीनों करण एक सरीखे हैं। चतुर इस बात को समझेंगे, समझहीन केवल खींचातान करेंगे। —अनु० ५।२४

(७) जो छः काय के जीने-मरने की वान्छा करता है वह इस संसार में ही रहेगा तथा जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इनकी आराधना करेगा और करावेगा उसका खेवा पार होगा। अनु० ५।२५

८

मिश्र धर्म

(१) कई दार्शनिकों की मान्यता है कि वनस्पति, जल, वायु आदि एक इन्द्रिय वाले जीवों की घात में जो पाप है उसने कई गुणा अधिक पुण्य, मनुष्य गायादि पंचेन्द्रिय प्राणियों के पोषण में है, क्योंकि पंचेन्द्रियों के पुण्य एकेन्द्रियों से बहुत अधिक हैं, अतः बड़े जीवों के सुख के लिए छोटों की घात करने में दोष—पाप नहीं है। —अनु० ९।१९,२०,२२

(२) भिन्न-भिन्न जीवों के प्राणों की कीमत उनके छोटे या बड़े शरीर पर निर्भर कर वे कहते हैं—'छोटे जीवों के मारने में जो पाप है वह बड़े जीवों के पोषण में जो पुण्य है, उसके सामने नगण्य है अतः बड़े जीवों के सुख के लिए छोटे प्राणियों की आहुति दी जा सकती है'।

(३) कई साधु अग्नि बुझाने में धर्म होना बतलाते हैं। वे कहते हैं—'अग्नि बुझाने में अग्नि और जल आदि जीवों की जो घात हुई उसमें थोड़ा पाप है परन्तु अग्नि बुझाने से जो जीव बचे उसका धर्म हुआ'—इस तरह वे धर्म और पाप मिश्रित बतलाते हैं। घाटे से अधिक नफा बतला कर, लोग जो सांसारिक कार्य करते हैं, उनके करने का अनुमोदना करते हैं। —अनु० ८।५२-५३-५४

(४) वे मूलादि खिलाने में मिश्र बतलाते हैं। मूलों के नाश से पाप हुआ, परन्तु खानेवालों की तृप्ति हुई, उससे धर्म हुआ।

—अनु० ७।३

(५) वे कहते हैं— 'कूँआ, तलाव आदि खोदने में हिंसा का पाप होता है परन्तु लोगों के कष्ट-हरण होने और उनके जल का अभाव मिटने से धर्म होता है'। इस तरह वे 'मिश्र' की मान्यता का प्रचार करते हैं। —अनु० ७।२

(६) यह उनकी मान्यता सत्य नहीं है। एक कसाई सैकड़ों पशुओं को वध करता है। यदि अग्नि को बुझा कर जीवों की रक्षा करने में धर्म है तब तो कसाई को मारकर पशुओं की रक्षा करना भी धर्म ही हुआ। क्योंकि दोनों में ही बहुत जीवों की रक्षा होती है। अनु ८।५६-५९

(७) उसी तरह सिंह, बाघ, सर्प, आदि हिंसक जीव अनेक प्राणियों की घात करते हैं। यदि अग्नि से जलते जीवों की रक्षा के लिए अग्नि बुझाने में पाप नहीं है तो प्राणियों की रक्षा के लिए इन हिंसक पशुओं के मारने में भी पाप नहीं है।—अनु० ८।६०

(८) इस मिश्र के सिद्धान्त की असारता दिखाने के लिए मैं सात दृष्टान्त देता हूँ। इन पर सरल हृदय से विचार करना। बुद्धिमानों को पक्षपात रखना उचित नहीं।

—अनु० ७।८

(९) सौ मनुष्य भूख से तड़फड़ा रहे हों उनको फल-फूलादि खिलाकर उनके प्राणों की रक्षा की; इसी तरह सौ मनुष्य को ठण्डा जल पिला कर उनके प्राणों की रक्षा की; पोष महीने की कड़कड़ाती सरदी में सिहर कर बेहोश हुए सौ मनुष्य को अग्नि जला ताप से सचेत किया; सौ मनुष्य पेट की पीड़ा से तड़फड़ाते हुए हाय-तोबा कर रहे थे, उनको हुक्का पिलाकर जीवित रक्खा; दुर्भिक्ष के कारण अन्नाभाव से मरते हुए सौ मनुष्यों को त्रस पशु को मार कर बचाया; सौ मनुष्य को मरे हुए पशु का कलेवर खिला भूख से मरते बचाया और सौ रुग्ण मनुष्यों की रक्षा मनुष्य की ममाई कर की। —अनु० ७।९-१०

(१०) अब यदि फल-फूल खिलाने में तथा जल पिलाने में पुण्य और पाप दोनों हैं तब तो शेष पांच दृष्टान्तों में भी पुण्य और पाप दोनों ही हुए। —अनु० ७।११

(११) सब उदाहरणों में सौ-सौ मनुष्यों की रक्षा हुई। यदि जल पिलाकर जीव-रक्षा करने में धर्म है तब तो तिर्यंच पशु या मनुष्य मार कर मनुष्यों की रक्षा करने में भी धर्म हो है। —अनु० ७।१२

(१८) यदि हिंसा से धर्म होता हो तब तो अठारह ही पापों से धर्म होगा। इस तरह एक बात के उलटने से अठारह बातें उलटती हैं। —अनु० ९।७१

(१९) यदि हिंसा कर जीव-रक्षा करने में धर्म है तब तो चोरी कर, झूठ बोल, मैथुन सेवन कर, धन देकर, क्रोधादि द्वारा दूसरे जीवों की रक्षा करने में भी धर्म ही हुआ। इस तरह अठारह ही पाप के सेवन में धर्म ठहरेगा। —अनु० ७।२१-२२-२३

(२०) जिन मार्ग की नीव दया पर है, खोज करनेवालों को यह सत्य मालूम देगा। यदि हिंसा करने से धर्म होगा तब तो जल मथने से भी घी निकलेगा। —अनु० ९।७८

मानो, एक गरीब रंक हो, उस पर अनुकम्पा लाकर कोई किसी के धन को चुराकर उसे देकर उसकी दरिद्रता को दूर करे। जो मिश्र धर्म के माननेवाले हैं उनके मतानुसार तो धन के मालिक को दाह देने से पाप और चुराया हुआ धन उस रंक को देने से धर्म होना चाहिए। परन्तु वे ऐसा नहीं मानते हैं। —च० वि० २।४४-४५

(२१) यदि किसी के धन को चुराकर गरीबों को देने में वे मिश्र नहीं मानते तो बिलकुल ही किसी के प्राण लेकर रंक जीव की रक्षा करने में मिश्र धर्म कहाँ से होगा। —च० वि० २।४८

(२२) इन दोनों प्रत्यक्ष पाप के कार्यों में से जो एक में भी मिश्र धर्म समझेगा उसकी श्रद्धा में पूरा वांक है।

—च० वि० ढा० २।४९

७

परोपकार: लौकिक और पारलौकिक

अनुकम्पा के सावद्य-निरवद्य भेद

(१) अनुकम्पा-अनुकम्पा सब कोई चिल्लाते हैं, परन्तु वास्तविक अनुकम्पा क्या है इस को विरले ही समझते हैं।

(२) गाय, भैंस, आक, थोर आदि सब के दूध, दूध कहलाते हैं। परन्तु गाय, भैंस आदि के दूध से शरीर की पुष्टि होती है और आक आदि के दूध से मृत्यु।

(३) इसी तरह निरवद्य अनुकम्पा ही आत्म-कल्याण का कारण होती है; सावद्य अनुकम्पा से पाप कर्मों का बन्ध होता है

—अनु० १।दो० २।

सावद्य निरवद्य की कसौटी

(४) जिस अनुकम्पा के आचरण से धर्मोपार्जन द्वारा आत्मोत्कर्ष होता है वह निरवद्य और आदरणीय है । इसके विपरीत जिस अनुकम्पा से आत्म-अपकर्ष व पाप-संचय होता है वह अनुकम्पा सावद्य है और अनादरणीय है ।

(५) अनुकम्पा की कसौटी और मर्यादा आत्म-कल्याण है। जिस अनुकम्पा से आत्मा-कल्याण होना संभव नहीं, उस अनुकम्पा से वास्तविक पर-कल्याण भी होना संभव नहीं। यदि लौकिक उपकार दृष्टिगोचर भी हो तो भी आत्म-कल्याण के स्वार्थ को त्याग कर उसे प्राप्त करना भी पाप है।

(६) जिन भगवान ने निरवद्य अनुकम्पा का उपदेश दिया है। उस अनुकम्पा को जीवन में उतार कर निरन्तर उसकी रक्षा करो। केवल अनुकम्पा के नाम से भ्रम में न पड़ कर वास्तविक अनुकम्पा की परख कर अपनी आत्म को कृतकृत्य करो। —अनु० १। दो० १,४-५

(७) जिन भगवान ने दो परोपकार बतलाए हैं:—एक लौकिक—इस लोक सम्बन्धी—दूसरा पारलौकिक मोक्ष-सम्बन्धी। —अनु० ११ दो० १

(८) भगवान ने पारलौकिक उपकार का आदेश दिया है परन्तु लौकिक उपकार का आदेश न देकर वे चुप रहे हैं।

—अनु० ११। दो० २

सावद्य निरवद्य अनुकम्पा के फल

(९) जो सांसारिक उपकार करता है उसके निश्चय ही संसार की वृद्धि होती है। जो पारलौकिक उपकार करता है उसके निश्चय ही मोक्ष नजदीक होता है। —अनु० ११।३

सावद्य अनुकम्पा के उदाहरण

(१०) किसी दरिद्र मनुष्य को घर-भूमि, धन-धान्य, सोना-चाँदी, दास-दासी, गाय-भैंसादि चतुष्पद ये परिग्रह भरपूर देकर तथा हर तरह से उसको सुखी कर उसके दारिद्य को दूर कर देना सांसारिक उपकार है—सावद्य अनुकम्पा है।

—अनु० ११।४

(११) उसी तरह रोग से पीड़ित मरणासन्न प्राणी को औषधादि देकर, झाड़ा-फूँका कर तथा अन्य अनेक उपाय कर सहायता करना—सावद्य अनुकम्पा है—सांसारिक उपकार है।

—अनु० ११।८

(१२) श्रावक खाने-पीने आदि की चीजें जितनी छोड़ता है उतने ही अंश में वह व्रती होता है। बाकी सब चीजों के खाने-पीने, उपभोग करने आदि की उसके अविरति रहती है। वह सावद्य प्रवृत्ति का सेवन करनेवाला होता है। श्रावक को विविध परिग्रह का सेवन करवाना सांसारिक उपकार है—सावद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११।१०

(१३) अग्नि से जलते हुए को बचाना, कूँआ में गिरते हुए को बचाना, तलाव में डूबते हुए को बाहर निकालना, ऊपर से गिरते हुए को थाम कर बचाना, ये सब सांसारिक उपकार हैं—सावद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११।१२

(१४) किसी के घर आग लगी हो, अनेक छोटे-बड़े जीव मर रहे हों, अग्नि बुझाकर उनकी रक्षा करना—सुख पहुँचाना, सांसारिक उपकार है—सावद्य अनुकम्पा है। अनु० ११।१४

(१५) बच्चों को पाल कर बड़ा करना, उन्हें अच्छी-अच्छी वस्तुएं खिलाना, बड़े आडम्बर से उनका विवाह करना, कमा-कमा कर उन्हें धन आदि देना, यह सब सांसारिक उपकार है—सावद्य अनुकम्पा है। अनु० ११।१६

(१६) माता-पिता की दिन रात सेवा करना, उन्हें रुचि अनुकूल भोजन कराना, दोनों समय स्नान कराना- ये सब सांसारिक उपकार हैं--सावद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११।१८

(१७) किसी के बाले निकालना, शरीर के कीड़े निकालना, लट, जूं, कानसलावे, बुग आदि दूर करना ये सब सांसारिक उपकार हैं। —अनु० ११।२२

(१८) उजाड़, वन आदि में भूले हुए को मार्ग बतला कर घर पहुँचाना, या थके हुए को कंधे पर चढ़ा कर ले जाना -ये सब सांसारिक उपकार हैं। —अनु० ११।२४

(१९) राम और लक्ष्मण ने सुग्रीव का उपकार किया, सुग्रीव ने सीता की खबर लगा कर रावण को मरवाया; तथा

में उत्पन्न हुए नाग-नागिनी के जीव ने भगवान के सिर पर छत्र और नीचे सिंहासन कर भगवान की उपसर्ग से रक्षा की—यह सावद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११।२६ २८

(३२) राम और लक्ष्मण ने सुग्रीव की सहायता की और उसने बदले में राम और लक्ष्मण की—यह सावद्य अनुकम्पा है।
—अनु० ११।२९

सावद्य अनुकम्पा की निःसारता

(३३) इस प्रकार जीवों ने परस्पर में अनन्त बार उपकार किए हैं, परन्तु इससे जीव की वास्तविक गर्ज पूर नहीं हुई। भगवान ने इस बात में विश्वास (श्रद्धा) करने को कहा है।

(३४) सांसारिक उपकार सब फीके होते हैं। वे अल्प काल ही में नाश को प्राप्त हो जाते हैं। सांसारिक उपकार से किसी को मोक्ष के सुख नहीं मिले। भगवान ने इस बात में श्रद्धा करने को कहा है। —अनु० ११।३६

लौकिक उपकार में धर्म क्यों नहीं

(३५) लौकिक उपकार में मूढ़ मिथ्यात्वी धर्म बतलाते हैं। जिन मार्ग को पहचाने बिना वे मनमानी बातें करते हैं।
—अनु० ११।३७

(३६) जो भी लौकिक उपकार हैं उनके मूल में मोह रहता है। साधु लौकिक उपकार की कभी भी प्रशंसा नहीं

(४१) तुम जबरदस्ती कर एक जीव को दूसरे जीव से बचाते हो। इससे एक से राग और दूसरे से द्वेष का बंध हो जाता है। इस भव या परभव में मिलने पर यह राग या द्वेष जाग उठता है। अनु० ११।४४

(४२) मित्र से मित्रता और वैरी से वैर बराबर बढ़ते जाते हैं। राग और द्वेष कर्मों के परिणाम हैं। राग और द्वेष में धर्म नहीं है। भगवान ने इस बात में विश्वास करने को कहा है। —अनु० ११।४५

(४३) कोई अनुकम्पा लाकर किसी के लिए घर मण्डाता है कोई क्रोध कर किसी के मण्डते हुए घर को बिखेर देता है। ये प्रत्यक्ष राग द्वेष हैं जो बढ़ते जाते हैं। — अनु० ११।४६

(४४) कोई किसी के कामभोगों को बढ़ाता है। कोई उनमें अन्तराय डाल देता है। ये भी प्रत्यक्ष राग द्वेष हैं। रागी से राग और द्वेषी से द्वेष आगे-आगे बढ़ते जाते हैं।

—अनु० ११।४७

(४५) कोई किसी के खोए हुए धन को बतलाता है, गमी हुई स्त्री आदि को बतलाता है। कोई किसी को लाभ नुकसान बतलाता है। कोई दवाई आदि देकर रोग को दूर करता है। इस प्रकार जो राग द्वेष उत्पन्न होते हैं, वे भविष्य में भी आगे बढ़ते जाते हैं। —अनु० ११।४८

(४६) इस प्रकार संसार के जो अनेक उपकार हैं वे मोक्ष के उपाय नहीं हैं, उनसे कर्मों का बंध होता है। —अनु० ३। दो० १

हृदय में दया—अनुकम्पा का स्रोत बह चला। उन्होंने सोचा, ये इतने प्राणी मेरे कारण से मारे जायंगे, यह मेरी आत्मा के लिये कल्याणकारी नहीं है। उसी समय उन्होंने विवाह करने के विचार को दूर कर दिया। राजिमती को छिटका दिया। कर्म के बन्धन से डर कर आठ भव की सगाई को तोड़ डाला। इस प्रकार की अनुकम्पा भगवान की आज्ञा में है। —अनु० ११४-५-६

(५१) धन्य है ! धर्मरुचि अणगार, जिन्होंने अपने से घात होती चींटियों की अनुकम्पा लाकर कडुवे तूम्बे को खा डाला। इस प्रकार की अनुकम्पा भगवान की आज्ञा में है।—अनु० ११७

(५२) गजसुकुमाल नेमी भगवान की आज्ञा ले श्मसान में कायोत्सर्ग करने के लिए गये। सोमल ने उनके सिर पर मिट्टी की पाल बांध कर अग्नि के सलगते अंगारे धर दिये। तो भी उन्होंने सोमल की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखा। यह निरवद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११२०

(५३) इस प्रकार विषम-से-विषम परिस्थिति में भी मन, वचन, काया से किसी प्राणी की हिंसा न करना, न कराना और न अनुमोदन करना निरवद्य अनुकम्पा है। अपने से जीव मरते हुए मालूम दें तो शीघ्रता से अपने शरीर आदि को काबू में कर उस हिंसा से टल जाना विवेकी दयावान का कर्त्तव्य है। यह अनुकम्पा जिन आज्ञा में है। —अनु० ११७

(५४) सांसारिक प्राणी विकारग्रस्त होता है, अर्थात् अपने प्रदेशों में जड़ पदार्थ को ग्रहण किये हुए रहता है। इस जड़

सत्पात्र पचखाना तथा सर्व साधर्मियों के प्रति उसके मोह को दूर करना, निरवद्य अनुकम्पा है। यह पारलौकिक उपकार है। —अनु० ११।९

(६१) गृहस्थ के भावों को वैराग्य की ओर मोड़ कर उसे भोग-परिभोग तथा परिग्रह की अविरति से निवृत्त करना, यह पारलौकिक उपकार है निरवद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११।११

(६२) जो जीव को जन्म-मरण की अग्नि से निकालता है, राग-द्वेष भाव रूपी धूंए से निकालता है, जो जीव को नर्क आदि नीच गतियों में पड़ने से बचाता है तथा संसार समुद्र से उसका निस्तार करता है, यह पारलौकिक उपकार करता है—यह निरवद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११।१३

(६३) किसीके हृदय में तृष्णारूपी अग्नि धांय-धांय जल रही हो और उसमें ज्ञानादिक गुण भस्म हो रहे हों, उसको धर्मोपदेश देकर सन्तोष धारण कराना यह पारलौकिक उपकार है—निरवद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११।१५

(६४) कोई अपनी सन्तान को सम्यक् प्रकार समझा कर काम भोग, स्त्री-सेवन, अन्नपान आदि नाना उपभोग-परिभोग तथा धन-माल आदि का त्याग करावे तो यह पारलौकिक उपकार है—निरवद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११।१७

(६५) कोई अपने माता-पिता को भली-भांति धर्म सुनावे, उन्हें सम्यक् ज्ञानी, दर्शनी और चारित्रवान बनावे तथा उन्हें

शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के विषयों से निवृत्त करे सो यह पारलौकिक उपकार है—निरवद्य अनुकम्पा है। —अनु० ११।१९

(६६) किसी के शरीर में बाले, कीड़े, लट, जूं आदि उत्पन्न हो गये हों तो उन्हें बाहर निकाल कर गिराने का प्रत्याख्यान करना यह पारलौकिक उपकार है—निरवद्य अनुकम्पा है।

—अनु० ११।२०

(६७) संसार-रूपी अटवी में भूले हुओं को ज्ञानादिक का शुद्ध मार्ग बतलाना तथा उनके कंधों पर से सावद्य प्रवृत्तियों के बोझ को अलग उतार उन्हें सुखपूर्वक मोक्ष में पहुंचाना यह पारलौकिक उपकार है—निरवद्य अनुकम्पा है।—अनु० ११।१५

(६८) कर्मों के संचार को रोकने के उपाय का नाम संवर है। हिंसा, झूठ आदि के त्याग रूप इसके बीस भेद हैं। तथा संचित कर्मों को क्षय करने के उपाय को निर्जरा कहते हैं, इसके बारह भेद हैं। इन बत्तीस भेदों को जो जीवन में उतारता है वह पारलौकिक उपकार करता है—निरवद्य अनुकम्पा करता है। —अनु० ११।५१

(६९) समदृष्टि लौकिक और पारलौकिक उपकार को भिन्न-भिन्न समझते हैं परन्तु मिथ्यात्वी इसको नहीं समझता हुआ मोहवश उल्टी टाण करने लगता है। —अनु० ११।५२

८

परोपकार पर चौभंगी

(क)

संयमी का संयमी के प्रति परोपकार

(१) एक सम्यक् आचारी साधु दूसरे सम्यक् आचारी साधु की द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की सेवा या सहायता कर सकता है।

(२) एक साधु दूसरे साधु की सेवा करे—यह धर्म कार्य है। अपने इस कर्त्तव्य में च्युत होने से वह दोष का भागी होता है और उसे योग्य प्रायश्चित लेना पड़ता है।

(३) यदि एक साधु अपने सहयोगी बूढ़े रोगी साधु की सेवा नहीं करता तो उसका यह कार्य जिन-आज्ञा के विपरीत होता है। उसके महा मोहनीय कर्म का बंध होता है, उसके इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं। —अनु० ८।४५

(४) आहार, जल, वस्त्रादि भिक्षा में लाकर परस्पर सम्भोगी साधुओं में बाँटने का नियम है। यदि भिक्षा में लायी हुई वस्तु का बराबर वितरण न करे तो चोरी का पाप लगता है। —अनु० ८।४६

(५) परस्पर साधु टट्टी-पेशाब को फेंकते हैं। एक दूसरे को रहने के लिए स्थान देते हैं। रुग्णावस्था में कंधा-झोली कर एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं।

(६) परस्पर शास्त्रों का खुलासा करते हैं तथा एक दूसरे को धर्म-पालन में सहायता करते हैं।

(७) साधुओं के ये परस्पर कार्य निरवद्य हैं। इनसे धर्म की प्राप्ति होती है।

(८) साधु दूसरे साधु की सावद्य दया नहीं कर सकता। आक्रमण रोकने के लिए भी पारस्परिक मदद निरवद्य हो—इसका साधु को खयाल रखना पड़ता है।

(९) आक्रमणकारी को अपने कृत्य की अनर्थकता और पापमयता बतला कर उसे उस कार्य से दूर कर एक साधु दूसरे साधु को सहायता पहुँचा सकता है। परन्तु आक्रमणकारी पर हाथ से अथवा अन्य किसी तरह प्रहार कर या बल प्रयोग कर सहायता नहीं कर सकता।

(१०) दया की सब से बड़ी मर्यादा है—आत्म-कल्याण। दया वास्तविक है या नहीं यह आत्म-कल्याण होने या नहीं

होने पर आधार रखता है। निजी आत्म-कल्याण के स्वार्थ को त्याग कर परस्पर मदद करना पाप का कारण है।

(११) अत्याचारी पर प्रहार करना यह भी हिंसा है। हिंसा से पाप होता है अतः बल-प्रयोग कर एक साधु दूसरे साधु की मदद न करे।

(१२) परस्पर सहयोग करते हुए साधु सदा इस बात का ख्याल रखे कि उसकी सहायता सहाय-पात्र के तपस्या और त्यागमय जीवन की महत्ता को घटानेवाली न हो।

(१३) यह यह भी ख्याल रखे कि उसकी सहायता साधु आचार के अनुकूल हो तथा साधु के ग्रहण करने योग्य हो।

(१४) किसी साध्वी पर कोई पापी बलात्कार करे उस अवस्था में बल-प्रयोग, प्रहार या वध करना अनिवार्य दिखाई दे तो भी सम्भोगी साधु या साध्वी ऐसा न करे।

(१५) ऐसे अवसर पर वह साध्वी को दृढ़ आत्मबल से उस अत्याचारी का अहिंसामय मुकाबिला करने के लिए छोड़ दे परन्तु ऐसे उत्तेजन के अवसर पर भी किसी प्रकार का बल प्रयोग न करे—पूर्ण वीतरागता का परिचय दे। साध्वी भी अपने अत्याचारी पर किसी प्रकार का प्रहार न करे परन्तु आवश्यकता मालूम पड़े तो अपने प्राणों का अन्त कर दे।

(१६) साधु के इस प्रकार सहायता न करने से उसे किसी प्रकार का पाप नहीं होता है, उल्टा अनुचित उपायों से साध्वी की रक्षा कर वह पाप का भागी होता उससे बचता है।

(१७) साधु हर प्रसंग पर राग-द्वेष रहित रहे; न वह किसी के प्रति द्वेष—क्रोध भाव लावे और न किसी के प्रति राग—मोह को स्थान दे।

(१८) अब यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि अत्याचार को रोकने के लिए साधु बल-प्रयोग नहीं कर सकता तो भगवान ने तेजोलेश्या का प्रयोग कर गोशालक को किस प्रकार बचाया।

(१९) इसके उत्तर में तुम्हें गोशालक का न्याय बतलाता हूँ। भगवती सूत्र के अनुसार साधु लब्धि नहीं फोड़ सकता। फिर भी इसके प्रयोग से भगवान ने गोशालक की रक्षा की थी। इसका कारण यह है कि मोह कर्म के उदय से भगवान के हृदय में राग उत्पन्न हो गया था। —अनु० ६।११

(२०) उस समय वीर भगवान के छवों ही लेश्याएँ थीं तथा आठों ही कर्म थे। छद्मस्थ[1] भगवान की यह चूक थी। मूर्ख इसमें धर्म बतलाते हैं। —अनु० ६।१२

(२१) छद्मस्थ भगवान चुके—उस बात को सामने लाते हो परन्तु हृदय की अकल लगा कर देखो कि यह कार्य निरवद्य है या सावद्य। —अनु० ६।१३

(२२) जिस तरह आनन्द श्रावक के घर पर गौतम छद्मस्थता के कारण चूक में झूठ बोल गये और बाद में भगवान के पास जाकर शुद्ध होना पड़ा, ठीक उसी प्रकार भगवान के मोह

१—केवल ज्ञान प्राप्त होने के पहले की अवस्था।

कर्म का उदय हो आया जिससे भगवान इस राग के प्रसंग से नहीं बच सके। जो इस न्याय को नहीं समझते वे मूल में ही मिथ्यात्वी है।

(२३) गोशालक ने बाद में भगवान के दो साधुओं को घात कर डाला। यदि गोशालक के बचाने में धर्म था तो भगवान फिर वैसा ही कर अपने दो साधुओं को बचा लेते। परन्तु भगवान ने ऐसा नहीं किया इसका क्या कारण है?—अनु० ६।१७-१

जगत को मरते हुए देखकर भगवान ने कभी आड़े हाथ नहीं दिए। तिरण-तारण भगवान इसमें धर्म होता तो उसे दूर नहीं करते। भगवती सूत्र में इसका शुद्ध ब्यौरा दिया है। सुबुद्धि के यह पसन्द आता है परन्तु कुबुद्धि केवल कदाग्रह करते हैं।

—अनु० ६।२०-२१

(२४) भगवान यदि गोशालक को नहीं बचाते तो एक अछेरा[1] कम होता परन्तु होनहार टलता नहीं है, यह विवेक पूर्वक समझो। —अनु० ६।१६

(ख)

संयमी का असयमी जीवों के प्रति परोपकार

(१) साधु, साधु के अतिरिक्त अन्य जीवों की भाव दया कर सकता है। द्रव्य दया नहीं कर सकता।

१—आश्चर्य।

(२) किसी के आध्यात्मिक उत्थान द्वारा उसके कष्टों को दूर करना परमार्थिक दया है, साधु अन्य जीवों के प्रति इस दया को कर सकता है।

(३) इसके अतिरिक्त वह किसी को द्रव्यादिक देकर या अन्य किसी प्रकार से सहायता कर या सुख पहुँचा परोपकार-दया नहीं कर सकता।

(४) संसारी प्राणी अपने प्रदेशों में अपने से विजातीय पदार्थ—कर्म पुद्गल को ग्रहण किए हुए रहते हैं। इन कर्मों के कारण ही आत्मा का सच्चिदानन्दमय स्वभाव ढका रहता है। ये कर्म ही सब दुःखों के मूल हैं। जन्म, जरा, मृत्यु और उनके आनुषंगिक दुःख इन्हीं कर्मों के परिणाम हैं।

(५) साधु इन कर्मों को क्षय करने का मार्ग बतला कर अन्य प्राणी की निर्दोष और सच्ची सेवा करता है। वह जीवों के हृदय से हिंसा आदि पापों को दूर कर उनको निर्मल करता है। उनके जीवन को संयमी और तपस्वी बनाता है। वह प्राणियों को सच्चा ज्ञान बतलाता है। उनमें सम्यक् श्रद्धा को जागृत करता है। तथा उन्हें अहिंसा और तपस्या की संयममय प्रवृत्तियों में अवस्थित करता है। इस प्रकार वह दुःख से दहकते हुए इस संसार से उन जीवों को मुक्त करता है। इस निरवद्य दया के अतिरिक्त और कोई दया साधु नहीं कर सकता।

(६) साधु गृहस्थ के शरीर सम्बन्धी या गृह सम्बन्धी कुशल क्षेम नहीं पूछ सकता। पूछने पर वह सोलहवें अनाचार का सेवी

होता है। पूछने पर जब यह बात है तो कुशल-क्षेम करने में तो पाप है ही।

गृहस्थ की सेवा करने से साधु २८ वें अनाचार का सेवी होता है। कुशलक्षेम पूछने और सेवा करने—इन दोनों में भगवान की आज्ञा नहीं है। —अनु० ११।६-७

(७) साधु रस्सी आदि से बंधे हुए तथा शीत और धूप के दुःख से पीड़ित पशु की अनुकम्पा लाकर उसे बंधन मुक्त नहीं कर सकता, न करा सकता है और न अनुमोदन कर सकता है। ऐसा करने पर वह चौमासिक दण्ड का भागी होता है। धर्म समझने पर समकित चला जाता है। इसी प्रकार वह पशुओं को बांध भी नहीं सकता।

—अनु० २।२-३

(८) मुनि, छिद्र से होकर नाव में जल भरते देखकर तथा नाव को डूबती देखकर, नाविक को या मुसाफिरों को यह नहीं बतलाता कि नाव में जल भर रहा है, न मन में इस से घबड़ाता है परन्तु व्याकुल हुए बिना, तथा चित्त को विचलित न करते हुए अपने परिणाम को दृढ़ रख धर्म-ध्यान में लवलीन रहता है।

—अनु० २।१८-२१

(९) गृहस्थ उजड़ वन में रास्ता भूल जाय और साधु अनुकम्पा लाकर रास्ता बतलावे तो उसके चार महीने का चरित्र चला जाता है। —अनु० १।२७

कई दार्शनिक कहते हैं कि किसी जीव को धूप में दुखी देखे

और यदि उसे उठाकर छाया में न रखे तो उसे साधु या श्रावक मत समझो। —अनु० ४। दो० १

अपने निमित से जीव मरते देखकर साधु काया संकोच कर निकल जाता है। पाप के भय से वह जीव नहीं मारता, परन्तु अनुकम्पा लाकर वह जीव को धूप से छाया में नहीं रखता—ऐसा करने से असंयती की वैयावच्च करने का दोष लगता है तथा साधु के पाँच महाव्रतों का भङ्ग होता है। —अनु० १।१७-१८

(१०) साधु किसी भूखे को अपनी भिक्षा में से भोजन नहीं दे सकता, नंगे को अपने वस्त्र कमल आदि से सहायता नहीं कर सकता, न करा सकता है और न अनुमोदन कर सकता है। ऐसा करने से चौमासी दण्ड आता है।

(११) गृहस्थ के घर पर अग्नि लगने से जीव विलविलाट कर रहे हों फिर भी साधु दरवाजा खोल कर बाहर नहीं निकलता। —अनु० २।५

जीव अपने-अपने कर्मों से उत्पन्न होते और मर जाते हैं साधु उनके बचाने का उपाय नहीं करता। —अनु० ३ दो० ३ अव्रती जीवों के जीने की कामना करता [illegible] धर्म का परमार्थ प्राप्त नहीं हुआ है। —अनु० [illegible]

(१२) ये सब सावद्य कार्य हैं [illegible] नहीं करता। साधु के अतिरिक्त सब [illegible] असंयमी जीवों के जी[illegible] [illegible] ९।

(१[illegible]

यह भोजन की अनुमोदना लगती है तथा जिन जीवों से खाँड़ इन्द्रियों को पोषण मिलता है। इस प्रकार और अधिक पापोपार्जन करा कर उन जीवों को आत्मिक दुर्गति का कारण होता है।

(१४) देव मनुष्य किंवा पशुओं में पारस्परिक युद्ध या द्वन्द्व हो रहा हो तो अमुक पक्ष की जय हो, या होनी चाहिए या अमुक पक्ष की जीत मत होवे या अमुक पक्ष हारना चाहिए ऐसा नहीं सोचे। संसार में परस्पर जीव एक दूसरे की घात कर रहे हों तो साधु को बीच में नहीं पड़ना चाहिए। बीच में पड़ने से साधु के व्रतों का भङ्ग होता है। —अनु० ५०२

(१५) जब बिल्ली चूहे पर आक्रमण करती है या सिंह किसी मनुष्य आदि पर आक्रमण करता है तो साधु हिंस्र जन्तु को भय दिखा कर या मार कर चूहे आदि मारे जानेवाले जीवों की रक्षा नहीं करता।

(१६) जीवों पर आक्रमण करते हुए हिंसक पशु को मारने के लिए किसी को कटिबद्ध देख कर साधु उस को यह न कहे कि तुम इसे मार डालो, न उसे यह कहना चाहिए कि इसे मत मारो। क्योंकि 'मार डालो' ऐसा कहने से पहले करण से हिंसा का पाप लगता है और यदि ऐसा कहे कि न मारो तो वह सिंह के प्रति मोह होगा—उसके द्वारा होती हुई हिंसा की अनुमोदना होगी—पशुओं के वध की कामना होगी अतः तीसरे करण से हिंसा होगी। इस बात के लिए सूयगडांग साक्षी है। —अनु० २९-३०

(१७) इन सब का कारण यह है कि किसी भी प्राणी को भय उपजाना साधु को मना है। जहां एक प्राणी दूसरे प्राणी की घात कर रहा हो वहां साधु को मध्यस्थ भाव से रहना चाहिए। एक को तकलीफ पहुँचा कर दूसरे के संकट को हरना निश्चय ही राग-द्वेष है। दसवैकालिक सूत्र से इसका निर्णय करो। —अनु० ५।४३,२।१७

(१८) एक जीव की आजीविका को अन्तराय देकर अन्य जीव की रक्षा करना राग द्वेष है। किसी को अन्तराय पहुंचाने से अन्तराय कर्म का बंध होता है और राग करने से मोहनीय कर्म का। ऐसे प्रसंगों में पड़ने से दोनों ओर दिवाला है।

(१९) संसार में अनन्त जीव एक दूसरे के घातक हैं। वे अपने-अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं उनकी चिन्ता साधु कहां तक कर सकता है?

(२०) पंचेन्द्रिय जीवों को सुख पहुँचाने के लिए साधु एकेन्द्रियादि जीवों की घात नहीं कर सकता, न करा सकता है और न करते हुए का अनुमोदन कर सकता है।

(२१) उदाहरण स्वरूप साधु पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा के लिए अग्नि को जल से नहीं बुझा सकता, न किसी को बुझाने की आज्ञा कर सकता है और न अनुमोदना ही। इसी प्रकार भूखे भिखारी को अन्न नहीं दिलवा सकता न पानी पिलवा सकता है।

(२२) जिस प्रकार मनुष्यादि पंचेन्द्रिय जीव सुख की और लम्बे जीवन की इच्छा रखते हैं उसी प्रकार एकेन्द्रियादि जीव

मय जीवन की अनुमोदना लगती है तथा विषय भोगों में लगी हुई इन्द्रियों को उत्तेजन मिलता है। इस प्रकार और अधिक पापोपार्जन करा कर उन जीवों की आत्मिक दुर्गति का कारण होता है।

(१४) देव मनुष्य किंवा पशुओं में पारस्परिक युद्ध या द्वन्द्व हो रहा हो तो अमुक पक्ष की जय हो, या होनी चाहिए या अमुक पक्ष की जीत मत होवो या अमुक पक्ष हारना चाहिए ऐसा नहीं बोले। संसार में परस्पर जीव एक दूसरे की घात कर रहे हों तो साधु को बीच में नहीं पड़ना चाहिए। बीच में पड़ने से साधु के व्रतों का भङ्ग होता है। —अनु० १।४२

(१५) जब बिल्ली चूहे पर आक्रमण करती है या सिंह किसी मनुष्य आदि पर आक्रमण करता है तो साधु हिंस्र जन्तु को भय उपजा कर या मार कर चूहे आदि मारे जानेवाले जीवों की रक्षा नहीं करता।

(१६) जीवों पर आक्रमण करते हुए हिंसक पशु को मारने के लिए किसी को कटिबद्ध देख कर साधु उस को यह न कहे कि तुम इसे मार डालो, न उसे यह कहना चाहिए कि इसे मत मारो। क्योंकि 'मार डालो' ऐसा कहने से पहले करण से हिंसा का पाप लगता है और यदि ऐसा कहे कि न मारो तो वह सिंह के प्रति मोह होगा—उसके द्वारा होती हुई हिंसा की अनुमोदना होगी—पशुओं के वध की कामना होगी अतः तीसरे करण से हिंसा होगी। इस बात के लिए सूयगडांग साक्षी है। —अनु० २।९-१०

संगति करते हैं साधु उनको जिन धर्म बतला कर अपने समान दयावान बना लेते हैं। —अनु० ९।३६

(२४) साधु सुअवसर देख कर हिंसा त्याग का उपदेश करता है। उपदेश करने का मौका न होने पर उपेक्षा कर मौन रहता है अथवा अन्यत्र चला जाता है।

(२५) साधु दानशालाएँ, पोहशालाएँ, धर्मशालाएँ, पशुशालाएँ आदि नहीं खोल सकता, न खुलवा सकता है और न खोलने की अनुमोदना कर सकता है।

ये कार्य प्रत्यक्ष सावद्य—हिंसा युक्त है। ये लौकिक उपकार हैं। उनमें धर्म नहीं कहा जा सकता। —अनु० ४।१८

(२६) इस प्रकार जितने भी सावद्य—लौकिक उपकार कार्य हैं वे साधु नहीं करता, न करवाता है और न करने वाले की अनुमोदना करता है। साधु के लिए सर्व लौकिक कार्य त्याज्य है। इसके कारण ऊपर बतलाए जा चुके हैं।

(२७) मोह अनुकम्पा से तो श्रावक भी बचे हैं; साधु तो मोह अनुकम्पा कर ही कैसे सकता है ? —अनु० ३। दो० ४

मोह अनुकम्पा के करने से यदि श्रावक के व्रत भंग हुए और उन्हें कर्मों से भारी होना पड़ा तो फिर साधु को धर्म कैसे होगा ? —अनु० ३।३८

नमिराय ऋषि चारित्र लेने के बाद बाग में आकर उतरे। इन्द्र उनकी परीक्षा के लिए आया। वह कहने लगा—अग्नि से तुम्हारी मिथिला नगरी जल रही है—एक बार तुम उस ओर

भी। मुनि को सब जीवों को अपनी आत्मा के समान देखना चाहिए। एक के सुख को नष्ट कर दूसरे को सुख पहुंचाने में वह धर्म किस प्रकार समझेगा? साधु छः ही काय का पीहर होता है—वह छः ही काय के जीवों की निरन्तर दया रखता है। छः काय में से एक भी काय की हिंसा में वह धर्म किस न्याय से बतला सकता है? —अनु० ९।८१

(८३) साधु अपने वस्त्रादि देकर कसाई से गायें नहीं छुड़ा सकता है, न रुपये दिलवा कर या देने की अनुमोदना कर छुड़वा सकता है।

धन-धान्यादि परिग्रह का जिसने नव कोटि प्रत्याख्यान कर दिया है वह कसाई को अर्थ किस प्रकार दिला सकेगा या देने की अनुमोदना कर सकेगा। ऐसा करने से व्रत भंग होकर मुनित्व का ही नाश होगा।

इस प्रकार हिंसा भी बन्द नहीं होगी परन्तु उसको और अधिक उत्तेजन मिलेगा। कसाई व्यापार के लिए पशुओं का वध करता है, उसे अर्थ दिलवा कर पशुओं को छुड़वाना, उसकी मेहनत को बचा कर दिए हुए धन से और अधिक शीघ्र हिंसा करने को उत्तेजित करना होगा।

कसाई पशुओं का मूल्य भी बढ़ा कर लेगा इसलिए और भी अधिक पशुओं को वध के लिए खरीद सकेगा।

जीव अपने कर्मों से संसार में सुख-दुःख पाते हैं—साधु [illegible] को बचाने की चेष्टा नहीं करता। जो जीव साधु की

संगति करते हैं साधु उनको जिन धर्म बतला कर अपने समान दयावान बना लेते हैं। —अनु० ५।३६

(२४) साधु सुअवसर देख कर हिंसा त्याग का उपदेश करता है। उपदेश करने का मौका न होने पर उपेक्षा कर मौन रहता है अथवा अन्यत्र चला जाता है।

(२५) साधु दानशालाएँ, पोहशालाएँ, धर्मशालाएँ, पशुशालाएँ आदि नहीं खोल सकता, न खुलवा सकता है और न खोलने की अनुमोदना कर सकता है।

ये कार्य प्रत्यक्ष सावद्य—हिंसा युक्त हैं। ये लौकिक उपकार हैं। उनमें धर्म नहीं कहा जा सकता। —अनु० ४।१८

(२६) इस प्रकार जितने भी सावद्य—लौकिक उपकार कार्य हैं वे साधु नहीं करता, न करवाता है और न करने वाले की अनुमोदना करता है। साधु के लिए सर्व लौकिक कार्य त्याज्य हैं। इसके कारण ऊपर बतलाए जा चुके हैं।

(२७) मोह अनुकम्पा से तो श्रावक भी बचे हैं; साधु तो मोह अनुकम्पा कर ही कैसे सकता है ? —अनु० ३। दो० ४

मोह अनुकम्पा के करने से यदि श्रावक के व्रत भंग हुए और उन्हें कर्मों से भारी होना पड़ा तो फिर साधु को धर्म कैसे होगा ? —अनु० ३।१८

नमिराय ऋषि चारित्र लेने के बाद बाग में आकर उतरे। इन्द्र उनकी परीक्षा के लिए आया। वह कहने लगा—अग्नि से तुम्हारी मिथिला नगरी जल रही है—एक बार तुम उस ओर

देखो ! तुम्हारे अन्तःपुर जल रहे हैं—यह बात तुम्हें शोभा नहीं देती कि तुम अपने अन्तःपुर को इस प्रकार जलते छोड़ो ! तुमने सारे लोक में सुख फैलाया है परन्तु अपने पुत्र रत्नों को बिलखते छोड़ रहे हो। यदि तुम दया पालन करने के लिए ही उठे हो तो इनकी रक्षा क्यों नहीं करते ?

नमि ऋषि ने जवाब दिया। मैं सुख से बसता और जीता हूँ मेरी पल-पल सफल हो रही है। इस मिथिला नगरी के जलने से मेरा कुछ नहीं जलता। मिथिला के रहने से मुझे कोई हर्ष नहीं है और न उसके जलने से मुझे कोई शोक है। मैंने सावद्य समझ कर अपनी मिथिला नगरी का त्याग कर दिया। मैं न तो उसके रक्षा की कामना करता हूं और न जलने की।

इस प्रकार नमि राजर्षि ने मोह अनुकम्पा को नजदीक भी नहीं आने दिया तथा समभाव की रक्षा करते हुए आठों कर्मों को खपा कर मुक्त पधारे। —अनु० ३।११-१९

चेड़क और कौणिक की वार्ता निरयावलिका और भगवती सूत्र में आई है। दो संग्रामों में १ करोड़ ८० लाख मनुष्यों का घमासान हुआ। परन्तु वीर भगवान के हृदय में अनुकम्पा नहीं आई। वे न तो स्वयं गये और न अपने साधुओं को भेज उन्हें मनाई की। यदि इसमें दया अनुकम्पा समझते तो बीच में पड़ कर सब को साता पहुँचाते—और यह भगवान के लिए छोटी-सी बात थी क्योंकि कौणिक भगवान का भक्त था और चेड़क बारह व्रतधारी श्रावक था। इन्द्र जो सीर हुआ था वह

भी समकिती था। ये तीनों ही भगवान की बात किस प्रकार उल्लंघन करते ? परन्तु ऐसा करने में मुक्ति के उपाय ज्ञान, दर्शन, चारित्र में से एक भी किसी को होते न देख कर भगवान चुप-चाप रहे। यदि इन उपायों में से किसी की बधोतरी होते देखते तो बिना बुलाए वे जाते। —अनु० ३।३९-४२

(२८) कई मतवादियों का कहना है कि जीव-रक्षा ही वास्तविक दया है। साधु खुद जीवों की रक्षा कर सकता है, दूसरों को कह सकता है कि तुम जीवों को बचाओ—उनकी रक्षा करो तथा जीव-रक्षा की अनुमोदना भी कर सकता है। (—अनु० ६। दो० ४) यदि जीव परस्पर में घात कर रहे हों तो साधु उनको जाकर अलग-अलग कर सकता है। —अनु० ४। दो० ४ इस सम्बन्धमें तुम्हें न्याय बात कहता हूं वह सुनोः—

जल का नाडा मेंढक और मच्छलियों से भरा रहता है, उसमें नीलन-फूलन (काई) का दल रहता है, लट-पुहरे आदि जलोक भरे रहते हैं। नाडा देख कर गाय भैंसादि पशु सहज ही जल पीने आते हैं।

घुने हुए धान्य के ढिगले होते हैं उनमें अथाह लटें और इलियां रहती हैं और बहुत अण्डे टलबल-टलबल करते रहते हैं। धान्य के ढिग देख कर बकरियां आती हैं।

गाड़े अनन्तकाय जमीकन्द से भरे रहते हैं। इसके चार पर्याय और चार प्राण होते हैं। इसे मारने पर कष्ट होता है—ऐसा भगवान ने कहा है। जमीकन्द के गाड़े देखकर बैल आदि पशु सीधे वहां जाते हैं।

इसमें जल के मेंढक भी रहते हैं। उस जल में काई, लट आदि बहुत जीव होते हैं। भगवान ने एक बूंद में अनन्त जीव बतलाए हैं। धाड़े को देखकर गाय जल पीने के लिए आती है।

अकुरड़ी में भीनी खाद में लट, गिडोले, गधैए अपने कर्मों से पैदा होकर टलबल-टलबल करते रहते हैं। वहीं पर नाना पक्षी आकर इन जीवों को चुगते रहते हैं।

कहीं-कहीं पर बहुत चूहे होते हैं जो इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। चूहों को देख कर सहज ही बिल्ली आती है।

गुड़, चीनी आदि मिष्टान्नों में चारों ओर जीव दौड़ते रहते हैं। मक्खी और मकड़े उड़ते रहते हैं जो परस्पर एक दूसरे को गिट जाते हैं। मकड़ा मक्खी को पकड़ लेता है।

इस प्रकार इस संसार में सर्वत्र एक जीव दूसरे जीव पर जी रहा है। साधु किस-किस को बचाये और छुड़ावे?

भैंसे आदि को हांक देने से नाड़े के भीतर के सब जीवों की रक्षा हो जाती है; बकरों को दूर करने से धान्य के अण्डे आदि जीव बच जाते हैं; बैलों को हांक देने से अनन्त काय वनस्पति की रक्षा होती है; गाय को नजदीक न आने देने से जल के पुहरादिक जीवों का विनाश नहीं होता; तथा पक्षियों को उड़ा देने से अकुरड़ी के लट आदि जीव कुशल रहें; बिल्ली को भगा कर चूहे को बचा लेने से उसके घर शोक नहीं हो; मकड़े को थोड़ा-सा इधर-उधर कर देने से मक्खी उड़ कर दूर चली जाय। इस प्रकार बहुत जीवों की रक्षा हो परन्तु साधु के

ए सब जीव समान हैं वह ऐसे प्रसंगों में बीच में नहीं
ड़ता हुआ समभाव को रखता है। —अनु० ४।१-१३

बिल्ली को भगा कर साधु चूहे को बचा ले तथा मक्खे
ो भगा कर मक्खी की रक्षा करे तो फिर दूसरे जीवों को
रते देख कर साधु उनकी रक्षा क्यों नहीं करता; इसमें क्या
न्तर है, मुझे बतलाओ। —अनु० ४।१४

साधु छः ही काय का पीहर कहलाता है। यदि वह केवल
सकाय को ही छुड़ावे तथा अन्य पाँच को मरते देख कर
नकी रक्षा न करे तो वह छः काय का पीहर किस प्रकार
हलाएगा ? —अनु० ४।१५

(२६) अन्यमतिः—'जीवों का बचना ही दया है।'

ानीः—'चींटी को कोई चींटी समझे—यह ज्ञान है या चींटी ही
ज्ञान है ?'

'चींटी को चींटी जानना यही ज्ञान है, चींटी ज्ञान नहीं है।'

'चींटी को चींटी मानना यह समकित है या चींटी ही सम
कित है ?'

'चींटी को चींटी मानना यही सच्ची श्रद्धा समकित है परन्तु
चींटी समकित नहीं।'

'चींटी मारने का त्याग किया वह दया है या चींटी रही यह दया है ?'

'चींटी रही यही दया है।'

'मानो हवा से चींटी उड़ गई तब तो तुम्हारे हिसाब से दया
भी उड़ गई ?'

'ठीक है। चींटी मारने के त्याग किए यह ही सच्ची दया मालूम देती है परन्तु चींटी का रहना कोई दया नहीं मालूम देता।'

'भगवती दया घट में रहती है या चींटी के पास ?'

'दया घट में ही रहती है चींटी के पास क्या रहेगी ?'

'यत्न किसका करना चाहिए—दया का या चींटी का ?'

'यत्न दया का ही करना चाहिए।'

'तुमने ठीक समझा। जीवों को तीन प्रकार और तीन तरह से मारने का त्याग करना यही संवर धर्ममय दया है, यदि त्याग बिना भी कोई जीवों को नहीं मारता तो भी निर्जरा होती है इस प्रकार छः काय का न मारना यही दया है। अगर जगत जीवों को मारता है तो उससे अपनी दया नहीं जाती।'

(३०) साधु रजोहरण लेकर उठते हैं तथा एक जीव को दूसरे जीव के चंगुल से बलपूर्वक छुड़ा देते हैं। मैं पूछता हूँ: 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों में से कौन-सा फल साधु को हुआ।' —अनु० ४।१६

(३१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिरिक्त कोई मुक्ति का उपाय नहीं है। यह छुड़ाना और बचाना सांसारिक (लौकिक) उपकार है। उसमें धर्म का जरा भी अंश नहीं है उससे मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। —अनु० ४।१७;१२

(३२) इन चार महान उपकारों में निश्चय ही धर्म है और सब उपकार सांसारिक कार्य हैं—मन, वचन, काया के साव[द्य] व्यापार हैं—उनसे कर्म बंधते हुए जानो। —अनु० ४।२२,१३।१३

(ग)

असंयमी का संयमी के प्रति परोपकार

(१) साधु के प्रति भी श्रावक निरवद्य अनुकम्पा का ही आचरण करता है। साधु के संयमी, तपस्वी और त्यागी जीवन की घात करनेवाली एक भी सहायता वह नहीं कर सकता—करने पर उसे पाप कर्मों से लिप्त होना पड़ता है।

(२) गृहस्थ, साधु को निर्जीव निर्दोष अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, कम्बल, पादप्रोंछन, आसन्न, शय्या, तथा स्थान आदि संयमी जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं का लाभ देता है।

(३) परन्तु वही गृहस्थ साधु को गाय-भैंस, धन-धान्य, घर-भूमि आदि दान में नहीं दे सकता। देने पर वह संयमी जीवन को भंग करनेवाला होने से पाप का भागी होता है। यह सावद्य अनुकम्पा है।

(४) तृषा से आकुल-व्याकुल साधु को सचित्तोदक पिलाना सावद्य दया है। छः ही काय के जीवों के पीहर, साधु की रक्षा करने पर भी इसमें धर्म नहीं, उल्टा पाप है।

—अनु० १।१९

(५) जो श्रावक साधु के लिए अनन्त जीवों की घात कर स्थानक आदि बनाता है उसको भी धर्म नहीं होता। साधु के सुख के लिए जीवों की घात करने में भी निश्चय ही आत्मा

का अहित है। जो श्रावक इसमें धर्म समझता है वह मिथ्यात्वी है। - अनु० १।६६

(६) साधु का संग बैठा हो और कोई हिंस्र पशु उस पर आक्रमण करे उस समय भी श्रावक उसको—हिंस्र पशुको—मार कर उसकी रक्षा करे इसमें धर्म नहीं है। जो धर्म समझता है वह मिथ्यात्वी है।

(७) ऐसे अवसरों पर जीवों के प्राणों की आपेक्षिक (relative) कीमत लगाना ऊपर-ऊपर से भले ही ठीक हो पर परमार्थिक हेतु से अनुचित है।

(८) ऐसे प्रसंगों पर प्राणी वध की छूट श्रावक रखते वह उसकी इच्छा है। परन्तु इस छूट के प्रयोग में भी धर्म तो नहीं होगा। उसका प्रयोग पापात्मक ही होगा। हाँ, उस श्रावक के व्रत पर कोई घात नहीं आयगा।

(९) राग और द्वेष ये दोनों हिंसा की वृत्तियाँ हैं। इनसे निश्चय ही कर्मों का बंध होगा। साधु हो या श्रावक वह प्रसंग में राग द्वेष रहित हो।

(१०) एकको चपत मार कर या तकलीफ देकर दूसरे उपद्रव को शांत करना प्रत्यक्ष राग-द्वेष है। साधु और श्रावक दोनों इससे बचते रहें। —अनु० २।१७

(११) जीव जीता है यह कोई दया नहीं है, क्योंकि जीवित रहना प्रत्येक प्राणी का जन्म प्राप्त अधिकार है। कोई जीव ... हो तो वह भी हिंसा नहीं है क्योंकि अपने-अपने निमि

से जीव मरते ही रहते हैं। हिंसा उसे ही होती है जो मारने वाला है। जो नहीं मारता उसे हिंसा नहीं होती यह दयारूपी रत्न की खान है। —अनु० ५।११

(१२) जो अहिंसक है उसे अपने नेत्र के सम्मुख होने वाली हिंसा से व्याकुल नहीं होना चाहिये और न धर्म कमाने के चक्कर में पड़ कर एक को मार कर दूसरे की रक्षा ही करनी चाहिए फिर चाहे वह दूसरा अहिंसक मुनि हो या अन्य कोई प्राणी।[१]

(१३) किसी के जीने मरने की वाञ्छा करने में अंशमात्र भी धर्म नहीं है। इस प्रकार की अनुकम्पा से कर्मों के वंश की वृद्धि होती है। मोह के वशीभूत होकर अनुकम्पा करने से राग द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष से इन्द्रियों के विषयों की वृद्धि होती है। इसलिए मोह-अनुकम्पा और दया-अनुकम्पा के

१ मिलाओः—"सर्प, बिच्छू, सिंह, गेंडा, तेंदुआ आदिक हिंसक जीवों को, जो अनेक जीवों के घातक हैं, मार डालने से उनके वध्य अनेक जीव बच जायगे और इससे पाप की अपेक्षा पुण्य बंध अवश्य होगा, ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिए क्योंकि हिंसा जो करता है वही, हिंसा के पाप का भागी होता है ऐसा शास्त्र से सिद्ध है, फिर उसे मार कर हमको पापोपार्जन किस लिए करना चाहिए ? दूसरे यह भी सोचना चाहिए कि, संसार में जो अनन्त जीव एक दूसरे के घातक हैं, उनकी चिंता हम कहाँ तक कर सकते हैं ?

—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

गंभीर अन्तर को समझना चाहिए। जो दया-अनुकम्पा को आदर देता है वह आत्मा को स्व-स्थान में स्थिर करता है। जगत जीवों को मरते देख कर उसे किंचित भी सोच फिक्र नहीं होता। —अनु० ३। श्लो० १-२-३

(१४) साधु के उपकरणादि को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचा देना भी इसी कोटी की अनुकम्पा है। इसमें धर्म नहीं है। उल्टा गृहस्थ को पाप का भागी होना पड़ता है। इसी प्रकार साधु के मस्से या फोड़े-फुनसियों का आपरेशन करना मुनि के शरीर में तैलादि का मालिश करना, उसके पैर से कांटे को निकाल देना और शिर से जूँ आदि कीड़ों को निकाल[illegible] सब सावद्य व्यापार हैं। गृहस्थ को, इनके करने से पा[illegible] होता है।

(१५) यहाँ प्रश्न हो सकता है कि साधु गृहस्थ से सेव[illegible] कराने के त्याग किए हुए रहता है। सेवा करने से साधु का [illegible] भङ्ग होगा इसलिए गृहस्थ साधु की सेवा नहीं करता।

(१६) इसका उत्तर यह है कि साधु गृहस्थ से सेवा न[illegible] लेता यह बात ठीक है परन्तु नहीं लेता इसका परमार्थ क्या है[illegible] साधु के द्वारा वह उपरोक्त कार्य करवाता है परन्तु श्रावक[illegible] पास से क्यों नहीं करवाता ?

(१७) श्रावक के पास से नहीं करवाता उसका कारण [illegible] कि वह असंयती अव्रती होता है उससे ये कार्य करवाने से [illegible] और अव्रत सेवन कराने का दोषी होता है।

(१८) साधु-साधु, साधु-गृहस्थ गृहस्थ-साधु इनके परस्पर निरवद्य अनुकम्पा सम्बन्धी कर्त्तव्यों का खुलासा ऊपर किया जा चुका है।

अब गृहस्थ श्रावक का दूसरे गृहस्थ, श्रावक या अन्य असंयमी जीव के प्रति क्या कर्त्तव्य है—यह समझने की आवश्यकता है।

असंयमी का असंयमी के प्रति परोपकार

(१९) जो अनुकम्पा साधु गृहस्थ के प्रति करते हुए नए कर्मों का बन्ध नहीं करता वही अनुकम्पा एक गृहस्थ दूसरे गृहस्थ के प्रति कर सकता है। साधु की श्रावक के प्रति जो अनुकम्पा कर्त्तव्य है वही एक श्रावक की दूसरे श्रावक के प्रति कर्त्तव्य है। अमृत सब के लिए समान होता है उसी प्रकार निरवद्य अनुकम्पा सब को फलदायिनी होती है।

— अनु० २।२-३

(२०) साधु जो अनुकम्पा श्रावक के प्रति नहीं कर सकेगा वह अनुकम्पा श्रावक, श्रावक के प्रति करेगा तो उसे धर्म नहीं होगा उलटा कर्मों का बंध होगा। उसका न्याय भी जैसा ऊपर बतलाया गया है वैसा ही है।

(२१) यहां प्रश्न हो सकता है कि साधु को दूसरे साधु की यथोचित द्रव्य साता करने से धर्म होता है परन्तु उपरोक्त कथनानुसार तो एक गृहस्थ दूसरे गृहस्थ या साधु के सिवा किसी भी प्राणी की द्रव्य साता करेगा तो उसे धर्म नहीं होगा?

(२२) गृहस्थ परस्पर में जो एक दूसरे की द्रव्य सहायता करते हैं निश्चय ही उसमें धर्म नहीं है। सांसारिक जीवन के लिए उसकी आवश्यकता हो सकती है परन्तु इस आवश्यकता के कारण ही उनमें धर्म होगा ऐसी बात नहीं है।

(२३) साधु के सिवा जितने भी प्राणी हैं वे यहां तो बिलकुल ही अविरति वाले होते हैं या अमुक बावतों में विरतिवाले और अमुक बावतों में अविरतिवाले।

(२४) अविरतिवाले प्राणी मोटी इच्छावाले, मोटी वृत्ति वाले, मोटे परिग्रहवाले, अधार्मिक, अधर्म परायण, अधर्म के अनुमोदन करनेवाले, अधर्म का उपदेश करनेवाले, बहुत कर अधर्म से ही जीनेवाले तथा अधर्म युक्त शरीर और आचारवाले होते हैं। वे लोग संसार में रह कर अधर्म द्वारा ही आजीविका चलाते हुए विचरते हैं

उनके हाथ प्राणीयों के लोही से रंगे रहते हैं। वे कूडकपट से भरपूर, दुष्ट चरित्र और व्रतवाले, तथा महा कष्ट से राजी हो सकें ऐसे असाधु होते हैं। वे सर्व प्रकार की हिंसा से लेकर सर्व प्रकार के परिग्रह तक तथा क्रोध से लेकर मिथ्या मान्यता तक के सर्व प्रकार के पाप कर्मों में लगे हुए होते हैं। वे सर्व प्रकार के स्नान, मर्दन, गंध, विलेपन, माल्य, अलंकार, तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध आदि विषयों में फंसे रहते हैं वे सर्व प्रकार के यान वाहन तथा शयन आसन वगैरह सुख सामग्री भोगने से—बढ़ाने से—विरत नहीं है। उनका जीवन

र खरीदने-बेचने से, मासा-आधा मासा कर तोलने से या
पया आदि के व्यापार-धन्धे में से फुरसत नहीं होती। वे
जीवन भर चांदी सोने आदि का मोह नहीं छोड़ते। वे जीवन
भर सर्व प्रकार के खोटे तोल बाटों को काम में लाने से नहीं
अटकते। इस प्रकार वे जीवन भर सर्व प्रकार की प्रवृत्तियों और
हिंसाओं से, सर्व प्रकार के करने कराने, रांधने-रंधाने, कूटने
पीसने, तर्जन-ताडन से तथा दूसरों को वध बंधनादि क्लेश देने
से विरत नहीं होते हैं। वे जीवन भर दूसरे भी जो इस प्रकार
के दोष युक्त, ज्ञान को आवरण करनेवाले, बंधन के कारण रूप,
दूसरों को आताप देनेवाले, तथा अनार्यों द्वारा सेवे जाते कर्म
हैं उनसे भी विरत नहीं होते।

वे अपने सुख के लिए ही जीवन भोगते हुए नाना त्रस
स्थावर प्राणियों की हिंसा करते हैं।

वे अपने परिवार को क्रूर दण्ड देनेवाले तथा दुःख, शोक, परि
ताप देनेवाले और जीवन भर इन कार्यों से नहीं विरतिवाले होते
हैं। ऐसा जीवन हमेशा अशुद्ध होता है, अपूर्ण है। अन्यायपर
प्रतिष्ठित है, संयम रहित है, मोक्षमार्ग से विरुद्ध है। सर्व दुःखों को
क्षय करने के मार्ग से विरुद्ध है, अत्यन्त मिथ्या और अयोग्य है।

(२५) गृहस्थ ऐसे प्राणी को जीव अजीव का भेद बतलाता
है—ज्ञान कराता है। जीव जैसी कोई वस्तु है, परलोक है, कर्मों
का शुभाशुभ फल है, कर्मों से मुक्त होने का उपाय है और मोक्ष
है, इनका विश्वास उत्पन्न कर सच्चा श्रद्धालु बनाता है। तथा

गये रुपये से किसी का [illegible] धंधुआरु, व्यापारी और अपनी स्नान है। यह निरवद्य अनुकम्पा है तो धारक कर सकता है। इसमें नहीं धर्म की प्राप्ति होती है।

(२६) इसके सिवा द्रव्य साता करना—जैसे नाना पौद्गलिक सुख पहुँचाना, उसको जीवन रक्षा के लिए गृह नाना हिंसा कार्य करना, ये सब कार्य धर्म नहीं हैं, क्योंकि इनमें केवल पापी प्राणियों को पोषण मिलता है उनके हिंसा पूर्ण कार्यों में सहायता पहुँचता है। गृहस्थ जीवन की आवश्यकताओं के पूर्ति पारस्परिक सहयोग किया जाता है उसे लौकिक उपकार कह सकते हैं उससे पारमार्थिक लाभ नहीं होता।

(२७) सम्पूर्ण अविरति और विरताविरत के जीवन में अन्तर होता है। पहला सम्पूर्ण असंयमी परन्तु दूसरा कई बातों में संयमी और कई बातों में असंयमी होता है।

(२८) जहाँ तक संयम का सम्बन्ध है—यह जीवन आर्य है शुद्ध है, संशुद्ध है तथा सर्व दुःखों को क्षय करने के मार्गरूप है।

(२६) परन्तु जहाँ तक अन्य बातों का सम्बन्ध है वहाँ तक इस जीवन में और अविरति के जीवन में विशेष अन्तर नहीं होता। अन्तर केवल इतना ही होता है कि यह अल्प आरम्भी, अल्प इच्छावाला तथा अल्प परिग्रहवाला होता है। हिंसा आदि फिर वे चाहें कितने ही मर्यादित रूप में हों जब तक जीवन में रहते हैं उसमें असंयम का पक्ष रहता ही है।

(३०) श्रावक को जो भी द्रव्य साता पहुँचाई जायगी वह

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें असंयम को ही उत्तेजन देने वाली होगी। क्योंकि उसका खाना-पीना, व्यापार-धंधा करना, नौकर-चाकर रखना, स्त्री-सेवन करना, बाल-बच्चों का पोषण करना, उपभोग परिभोग चीजों का सेवन करना, धन रखना, देना आदि सब प्रवृत्तियाँ उसके जीवन के अधर्म—असंयम पक्षका ही सेवन है।

(३१) इस तरह हम देखते हैं कि एक गृहस्थ दूसरे गृहस्थ की सेवा या उपकार करने में धर्म नहीं मान सकता। जो ऐसा मानता या उपदेश करता है वह मिथ्यात्वी होता है।

(३२) साधु अहिंसा आदि सर्व पापों से सम्पूर्ण विरति वाला होता है। उसके सब कार्य संयम की रक्षा के लिए होते हैं। इसलिए एक साधु दूसरे साधु की शास्त्रानुसार सहायता कर उसके संयमी जीवन को ही पोषण देता है; परन्तु गृहस्थ के जीवन के विषय में ऐसा नहीं है अतः उसकी द्रव्य सहायता नहीं की जा सकती। एक श्रावक एक साधु को अचित्त भोजन आदि का दान दे सकता है परन्तु एक गृहस्थ के द्वारा दूसरे गृहस्थ को या अन्य जीव को भोजन आदि का देना धर्म नहीं है। इसका कारण भी जो ऊपर बताया गया है वही है।

(३३) कई कहते हैं कि जिस तरह साधु साधु के परस्पर में सम्भोग होता है उसी प्रकार गृहस्थ-गृहस्थ के भी संभोग होता है। ऐसा कहने वाले अज्ञानी, बिना सिद्धान्त-बल के बोलते हैं। मैं इसका न्याय बतलाता हूँ—भव्य जन ! चित्त लगा कर सुनें।

—अनु० ८।४०

(३४) साधु से जीव मरते देख कर सम्भोगी साधु नहीं बतलाता तो अरिहन्त की आज्ञा का लोप करता है जिससे वह विराधक होता हुआ पाप का भागी होता है।

—अनु० ८।४१

(३५) साधु जो साधु को जीव बतलाता है वह तो अपने पाप को टालने के लिए परन्तु अगर श्रावक श्रावक को जीव नहीं बतलाता तो कौन-सा पाप लगता है ? कौन-सा व्रत भंग होता है ? —अनु० ८।४२

(३६) श्रावक यदि श्रावक को जीव नहीं बतलाता तो उसे पाप लगता है—यह भेषधारियों ने झूठा मत खड़ा कर दिया है। यदि श्रावकों के साधुओं की तरह सम्भोग हो तो पग-पग पर पाप के पुलीन्दे बंध जाँय। —अनु० ८।४३

(३७) पाट बाजोटादि बाहर रख कर यदि एक साधु मल मूत्रादि विसर्जन के लिए चला जाय और पीछे से यदि वर्षा आ जाय और दूसरा साधु उनको उठा कर भीतर न ले तो उसको प्रायश्चित आता है। —अनु० ८।४४

(३८) अगर एक बीमार साधु की वैयावच्च दूसरा साधु नहीं करता तो यह जिन आज्ञा के विपरीत आचरण करता है, उसके महा मोहनी कर्म का बन्ध होता है उसके इहभव और परभव दोनों बिगड़ते हैं। —अनु० ८।४५

(३९) आहार पाणी जो गोचरी में मिले उसे परस्पर में बाँट कर खाना चाहिए। यदि उसमें से गोचरी लानेवाला

धिक लेता है तो उसे अदत्त लगती है—उसकी प्रतीत उठ
ाती है। —अनु० ८।४६

(४०) इस तरह अनेक बातें ऐसी हैं जिन्हें यदि एक साधु
भोगी साधु के प्रति नहीं करता तो उसके मोक्ष में बाधा आती
। ये ही बोल यदि एक श्रावक दूसरे श्रावक के प्रति न करे
ो उसे अंश मात्र भी दोष नहीं लगता। —अनु० ८।४७

(४१) यदि श्रावकों के परस्पर में साधु की तरह ही
भोग होता हो तब तो श्रावकों को भी उपरोक्त प्रकार से
र्तन करना चाहिए। अज्ञानी इस श्रद्धा का निर्णय नहीं करते,
न्होंने लोगों का आश्रय ले लिया है। —अनु० ८।४८

(४२) यदि एक श्रावक दूसरे श्रावक के प्रति उपरोक्त
र्तन नहीं करता तो उन भेषधारियों के अनुसार तो वह
ागल होना चाहिए! जो श्रावकों के साधुओं की तरह
ंभोग होने की प्ररूपणा करते हैं वे मूर्ख उल्टे मार्ग पर पड़
ए हैं। —अनु० ८।४९

(४३) श्रावकों के श्रावकों से भी संभोग होता है और
मिथ्यात्वियों से भी। ये संभोग तो अव्रत में हैं इनको त्याग करने
र ही पाप कर्म दूर होंगे। —अनु० ८।५०

(४४) श्रावक श्रावकों से या मिथ्यात्वियों से शरीरादि
का संभोग दूर कर ज्ञानादिक गुणों का मिलाप रखे। वह उपदेश
कर अजवाबदेह हो जाय, यदि सामनेवाला समझ कर पाप
को टालेगा तो ही उसके पाप टलेंगे। —अनु० ८।५१

छः काय में से किसी काय के वैरी होकर छः काय के शस्त्र जीवों को मारनेवाले को धर्म नहीं होता। इन जीवों का जीवन प्रत्यक्ष असंयमी और पापपूर्ण (सावद्य) है।

—अनु० १२।१३

असंयमी के जीने में कोई धर्म नहीं है। —अनु० १२।१२ जो सर्व सावद्य का त्याग करता है उसका जीवन संयमी होता है।

—अनु० ९।४०

एक जीव दूसरे जीव की रक्षा करता है– यह सांसारिक उपकार करता है। इसमें न तो जरा भी धर्म है और न भगवान की आज्ञा है। —अनु० १२।६०

पापों से अविरतिवाले जीव छः की काया के लिए शस्त्र स्वरूप हैं। उनका जीना भी बुरा (पापमय) है और मरना भी बुरा—दुर्गति का कारण है। जो ऐसे जीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान करता है उसमें दया का बहुत बड़ा गुण है।

—अनु० ९।३८

असंयममय जीवन और बालमरण की आशा या वाञ्छा नहीं करनी चाहिए; पण्डितमरण और संयममय जीवन की वाञ्छा करनी चाहिए। —अनु० ९।३९

साधु श्रावक का धर्म व्रत में है। जीव मारने का प्रत्याख्यान करना ही उनका धर्म है। —अनु० १२।७

वे श्रेणिक राजा का उदाहरण देकर यह कहते हैं कि अगर किसी को जोर जबरन—उसकी इच्छा बिना भी हिंसा से रोक

जाय तो उसमें जिन धर्म है परन्तु उनको इसकी खबर नहीं है कि ऐसा कह वे सावद्य भाषा बोल रहे हैं। —अनु० ७।३१

वे कहते हैं—श्रेणिक ने पडह बजा कर नगर में इस आज्ञा की घोषणा की थी कि कोई भी जीव न मारे; यह घोषणा उसने मोक्ष का कारण समझ—धर्म समझ कर ही की थी। परन्तु ऐसा अज्ञानी, मिथ्या दृष्टि ही कहते हैं।

—अनु० ७।३२

राजा श्रेणिक समकिती था, यदि ऐसी घोषणा में कोई धर्म नहीं होता तो वह क्यों करता—इस प्रकार ये श्रेणिक का नाम ले-ले कर भोले लोगों को भ्रम में डालते हैं।

—अनु० ७।३३

श्रेणिक राजा ने जो घोषणा की थी—यह और कुछ नहीं एक बड़े राजा की परिपाटी—रीत थी; भगवान ने इसकी सराहना नहीं की फिर कैसे प्रतीत हो कि इसमें धर्म है। —अनु० ७।३७। सूत्र में केवल इस तरह पडह फेरने की बात आई है कि कोई जीव मत मारो। जो श्रेणिक को इसमें धर्म बतलाते हैं वे प्रत्यक्ष झूठ कहते हैं। —अनु० ७।३८। यह बात लोगों से मिलती देखकर वे इसका सहारा लेते हैं। —अनु० ७।३९

श्रेणिक राजा ने जो आण फिराई थी वह पुत्र जन्म होने या पुत्र विवाह होने के उपलक्ष में, या ओरी शीतलादिक रोग के फैलने या ऐसे ही किसी कारण के उत्पन्न होने पर फेरी होगी। —अनु० ७।४०

इससे उसके नए कर्मों का आना नहीं रुका और पुराने कर्मों का नाश हुआ और न वह नर्क जाने से रहा भगवान ने इस प्रकार दया पलवाने का धर्म नहीं सिखाया है

—अनु० ७।४१

(४५) यदि किसी व्यसन वाले मनुष्य को उसके मन बिना ही सातों व्यसन छुड़ा दिए जाय और उसमें धर्म हो तब तो छः खण्ड में आण फिरा वे ऐसा करते; इसी प्रकार फल-फूलादि अनन्त काय की हिंसा, तथा अठारह ही पाप बिना मन, दबाव से, जोर जबरन छुड़ाने में धर्म हो तो वे छः खण्ड में आण फिरा ऐसा करते। —अनु० ७।४५-४६। भगवान तीर्थंकर घर में थे उस समय ही उनके तीन ज्ञान थे तथा लोक में उनका हाल हुक्म था फिर भी उन्होंने पड़ह नहीं फिराई। —अनु० ७।४७

बलदेवादि बड़े-बड़े राजाओं ने घर छोड़ कर पाप का प्रत्याख्यान किया परन्तु श्रेणिक की तरह उन्होंने पड़ह फिरा कर जोर-जबरदस्ती अपनी सत्ता नहीं प्रवर्ताई।

—अनु० ७।४८

चित्त मुनि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को समझाने आए; उन्होंने साधु श्रावक का धर्म ही बतलाया परन्तु पड़ह फिराने की आमना न की। —अनु० ७।४९

नए कर्मों का संचार बीस प्रकार से रुकता है, तथा पुराने १२ प्रकार से कटते हैं। यह मोक्ष का सीधा मार्ग है—अ... ...दंड धर्म को दूर रखो। —अनु० ७।५०

दान

'× × × × मैं आज से श्रमण निर्ग्रन्थों को निर्दोष और उनके ग्रहण योग्य अन्न-जल, खाद्य-स्वाद्य, वस्त्र-पात्र, कंबल, रजोहरण, पीठ, बैठने सोने के पाट-बाजोट, शय्या, रहने का स्थान और औषध-भैषज देता रहूँगा।'

— उवासगदसाओ अ० १

* * * * *

'जो रोज-रोज दस लाख गाय का दान करता है, उससे संयमी श्रेष्ठ है भले ही वह कुछ न दे।'

—उत्तराध्ययन, ९।४०

१

दस दान

(१) भगवान ने स्थानाङ्ग सूत्र में दस दान बतलाए हैं, जिनके गुणानुसार नाम निकाले हुए हैं। —द० दा० [1] दो० १

(२) जिस तरह आम और नीम के वृक्ष, वृक्ष होने की दृष्टि से, एक कोटि में आते हैं, परन्तु दोनों के वंश जुदे-जुदे हैं, उसी तरह देने की क्रिया रहने से देने के कार्य सभी दान कहलाते हैं परन्तु धर्म और अधर्म दान के वंश जुदे-जुदे हैं।

(३) दस दानों में से धर्म और अधर्म ये दो मुख्य हैं। जिस तरह नीम, निमोली, तेल, खल ये सब नीम वृक्ष के परिवार हैं

१—देखो 'जैन तत्त्व प्रकाश' नामक पुस्तक में 'दस दान की ढाल' पृ० १८८-१९०

उसी तरह अवशेष आठ दान, अधर्म दान के परिवार हैं, वे धर्म दान में मिल नहीं सकते कारण वे जिन आज्ञा सम्मत नहीं हैं।

—इ० दा० दो० ४, ५

(४) धर्म और अधर्म के सिवा शेष आठ दानों को मिश्र —धर्म और पाप दोनों बतलाना मिथ्या है।

—इ० दा० दो० २

(५) भगवान ने दस दानों के नाम इस प्रकार बतलाए हैं—(१) अनुकम्पा दान, (२) संग्रह दान, (३) भय दान, (४) कारुण्य दान, (५) लज्जा दान, (६) गौरव दान, (७) अधर्म दान, (८) धर्म दान, (९) करिष्यति दान और (१०) कृत दान।

(६) भिखारी, दीन, अनाथ, म्लेच्छ, रोगी, शोकातुर आदि को दया ला कर दान देना अनुकम्पा दान कहलाता है। वनस्पति खिलाना, जल पिलाना, उनको हवा डालना, अग्नि जला कर ठण्डक दूर करना, नमक आदि देना इन सबके दान से इस संसार में भ्रमण करना पड़ता है। अनन्त जीवों के कन्द मूले आदि जमीकन्द देनेवालों को मिश्र-धर्म बतलानेवाले के निश्चय ही मोह कर्म उदय में आया है। —इ० दा० १-१

(७) बन्दियों की सहायता के लिए—उनको कष्ट में सहारा देने के लिए जो दान दिया जाता है उसको संग्रह दान कहते हैं। धोरी, बावरी, भील, कसाई—इन सबको सचित्तादि खिला कर या धन देकर पशु आदि को छुड़वाना संग्रह दान में

दान दिया जाता है वह भी गौरवदान ही है। इस दान से भ
पाप-कर्म बन्धते हैं। मिश्र नहीं होता। मिश्र माननेवा
मिथ्यात्वी हैं। —द० दा० १३-१५

(१२) कुशील में रत वेश्यादिक को नृत्यादि क्रीड़ा
लिए धन देना, प्रत्यक्ष दुष्कृत्य होने से अधर्म दान कहलाता है।
—द० दा० १६

(१३) सूत्र और अर्थ सिखा कर आत्म-कल्याण के सच्
पथ पर लाना तथा समकित और चारित्र का लाभ देना य
धर्मदान कहलाता है। —द० दा० १७

सुपात्र का संयोग मिलने पर उसको सहर्ष निर्दोष वस्तुअ
की भिक्षा देना यह दान भी धर्मदान है। यह दान मुक्ति क
कारण है और ऐसे दान से दारिद्रय दूर होता है। —द० दा० १

वैराग्य पूर्वक छः प्रकार के जीवों की घात करने का पचक्खाण
(त्याग) करना यह अभयदान है ऐसा भगवान ने कहा है
यह धर्मदान का ही अंग है। —द० दा० १९

(१४) सचित अचित आदिक अनेक द्रव्य फिरती पाने क
भरोसा कर, उधारी वस्तु की तरह देना करिष्यति दान
कहलाता है। —द० दा० २०

(१५) जिस तरह उधार दी हुई वस्तु फिरत लौटाई जात
है उस तरह होवी—नोतादिक वापिस देना इसको कृतदान
कहते हैं। —द० दा० २१

(१६) करिष्यति और कृत दान की चाल पुण्य-बो

के व्यवहार की तरह है। ये एक तरह से परस्पर के लेन-देन हैं—जिनको ज्ञानी सावद्य मानते हैं। इनमें पाप और पुण्य सम्मिलित मानना ठीक नहीं। —द० दा० २२

(१७) ऊपर में दस दानों का संक्षेप में खुलासा किया है। वीर भगवान की आज्ञा में केवल एक दान है और आज्ञा बाहर और भी बहुत से दान हैं। —द० दा० २३

(१८) जिन भगवान ने भगवती सूत्र में कहा है कि असंयती को निर्दोष आहार बहराने में भी एकान्त पाप है।

—द० दा० २४

(१९) इस तरह आठ दानों को अधर्म का परिवार समझो। धर्म और अधर्म इन्हीं दो कोटि के दान हैं, मिश्रदान एक भी नहीं है। जिनके मूल में सम्यक्त्व रूपी नींव नहीं है वे मिथ्यात्वी ये कैसे समझ सकते हैं? आठ दान अधर्म दान हैं इस सम्बन्ध में बहुत सूत्रों की साख मिल सकती है—यह विचारो। —द० दा० २५-२६

२

धर्म दान का स्वरूप और व्याख्या

दान विवेक

(१) दूध की दृष्टि से आक और गाय के दूध एक कहे जा सकते हैं, परन्तु फल की दृष्टि से दोनों जुदे-जुदे हैं, उसी प्रकार दान मात्र में ही धर्म नहीं है परन्तु सावद्य और निरवद्य दान के फल में अमृत-विष का फर्क है। जो दोनों को एक कहते हैं उन्होंने जैन धर्म की शैली को नहीं समझा है। —च० वि० ११८०

(२) जो दान श्रावक के बारहवें व्रत में देना विधेय है वही धर्म दान है। इस निरवद्य दान को देकर जीव संसार को घटाता है। इस दान की भगवान ने अपने मुख से प्रशंसा की है। —च० वि० ११११। अन्य सावद्य दानों से, दान करनेवाले और लेनेवाले—दोनों के पाप-वृद्धि होती है।

धर्म दान के तीन तत्त्व

श्रावक के बारहवें व्रत में जिस दान का विधान है, उसके पूरे होने की तीन शर्तें हैं—(१) वह सुपात्र को दिया जाय, (२) देनेवाला उच्छाह भावों से दे और (३) दी जाने वाली वस्तु निर्दोष, अचित और एषणीय हो। इन तीनों में से एक भी शर्त पूरी न होने पर वह दान लाभ का कारण नहीं पर देनेवाले के लिए नुकसान का कारण हो जाता है। ऐसे दान में यदि तो जरा भी धर्म नहीं बतलाता। जिस दान से अनन्त सिद्ध हुए, ऐसा भगवान ने कहा है, उस दान के रहस्य को कम ने जाना है—उसकी छान-बीन कम ने की है। सुपात्र को, शुद्ध दाता, जब निर्दोष अन्नादि वस्तुओं का दान देता है, तभी यह व्रत पूरा होता है और जीव संसार को कम कर शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है। —'अठारह पाप की ढाल' गा० २४-३१

सुपात्र कौन है? यह एक जटिल प्रश्न है परन्तु जिज्ञासु के लिए इसे हल करना कोई कठिन कार्य नहीं। बारहवाँ व्रत अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है। अतिथि का अर्थ होता है—जिसके आने की तिथि, पर्व या उत्सव नियत न हो परन्तु इससे यह कोई न समझे कि कोई भी अभ्यागत, फिर चाहे वह जैन साधु हो या श्रावक या अन्य मति साधु हो या याचक

१—देखो इस ढाल के लिये "जैन तत्त्व प्रकाश" नामक पुस्तक पृ० १९२

अतिथि है[1]। अतिथि से यहाँ पर मतलब भिक्षा के लिए पर्यु पस्थित हुए पात्र महाव्रतधारी साधु से है। ऐसे अतिथि को दान देना ही सत्पात्र दान है।

सत्पात्र की इस व्याख्या को पुष्ट करने के लिए अनेक स्थल दिए जा सकते हैं जो इस प्रकार हैं:—

आनन्द श्रावक ने व्रत अङ्गीकार के बाद जो अभिग्रह लिया उसमें स्पष्ट रूप से कहा है: 'मैं श्रमण निर्ग्रन्थों को अचित भोजनादि देता रहूँगा'।[2]

सूयगडांग सूत्र में[3] श्रावकोपासक के जीवन की रूप रेखा खींचते हुए लिखा है कि वह श्रमण निर्ग्रन्थों को निर्दोष और ग्रहण करने योग्य खान-पानादि वस्तुएँ देता हुआ जीवन व्यतीत करता है।

१—कई आचार्यों ने इस अर्थ को लिया है यथा:—

अतिथिसंविभागो नाम अतिथयः साधवः साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च एतेषु गृहमुपागतेषु भक्त्या अभ्युत्थानासनदानपादप्रमार्जननमस्कारादि भिरर्चयित्वा यथाविभवशक्ति अन्नपानवस्त्रौषधालयादि प्रदानेन संविभागः कार्यः।

२—कप्पइ मे समणे निग्गन्थे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाण—पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए। —उवासगदसाओ सूत्र, अ० १, पेरा ५८।

३—श्रुतस्कंध २, अ० २।२४

भगवती सूत्र में' तुंगिका नगरी के श्रावकों का जहाँ वर्णन आया है वहाँ भी ऐसा ही वर्णन है।

उवासगदसाओ सूत्र की टीका में' श्री अभयदेव सूरी ने १२ वें व्रत के अतिचारों पर टीका करते हुए इस व्रत की जो व्याख्या की है उसमें 'साधु' शब्द साफ तौर पर आया है।

वंदित्तु सूत्र में' चरण करण से युक्त साधु को अचित वस्तुओं के मौजूद होते हुए भी दान न दिया हो तो उसकी आलोचना आई है।

भगवान महावीर के समय में ब्राह्मणों को ही क्षेत्र-पात्र माना जाता और वे ही दान को पाने योग्य समझे जाते थे'। भगवान ने भिक्षा का अधिकार जाति पर न रख गुणों पर रक्खा था और कहा था कि जो पाँच महाव्रतधारी, समितियों से संयुक्त और गुप्तियों से गुप्त है वही सच्चा पात्र है। इस बात की पुष्टि उत्तराध्ययन सूत्र के 'हरि केशीय' संवाद से होती है। हरिकेशी ब्रह्म यज्ञ में भिक्षा या[illegible]करते हुए अपनी पात्रता का परिचय इस प्रकार दे[illegible] हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, संयमी हूँ, धन [illegible] हुआ हूँ, [illegible] को देख कर

[illegible]-अ० १पेरा५६

नामक पुस्तक पृ० ११३

अतिथि है[1]। अतिथि से यहाँ पर मतलब भिक्षा के लिए समुपस्थित हुए पाँच महाव्रतधारी साधु से है। ऐसे अतिथि को दान देना ही सत्पात्र दान है।

सत्पात्र की इस व्याख्या को पुष्ट करने के लिए अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं कुछ इस प्रकार हैं:—

आनन्द श्रावक ने व्रत अङ्गीकार के बाद जो अभिग्रह लिया उसमें स्पष्ट रूप से कहा है: 'मैं श्रमण निर्ग्रन्थों को अचित्त भोजनादि देता रहूँगा[2]।'

सूयगडांग सूत्र में[3] श्रावकोपासक के जीवन की रूप रेखा खींचते हुए लिखा है कि वह श्रमण निर्ग्रन्थों को निर्दोष और ग्रहण करने योग्य खान-पानादि वस्तुएं देता हुआ जीवन व्यतीत करता है।

१—कई आचार्यों ने इस अर्थ को लिया है यथा:—

अतिथिसंविभागो नाम अतिथयः साधवः साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च एतेषु गृहमुपागतेषु भक्त्या अभ्युत्थानासनदानपादप्रमार्जननमस्कारादिभिरर्चयित्वा यथाविभवशक्ति अन्नपानवस्त्रौषधालयादि प्रदानेन संविभागः कार्यः।

२—कप्पइ मे समणे निग्गन्थे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाण—पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए। —उवासगदसाओ सूत्र, अ० १, पेरा ५८।

३—श्रुतस्कंध २, अ० २।३४

भगवती सूत्र में[1] तुंगिका नगरी के श्रावकों का जहां वर्णन आया है वहां भी ऐसा ही वर्णन है।

उवासगदसाओ सूत्र की टीका में[2] श्री अभयदेव सूरी ने १२ वें व्रत के अतिचारों पर टीका करते हुए इस व्रत की जो व्याख्या की है उसमें 'साधु' शब्द साफ तौर पर आया है।

वंदित्तु सूत्र में[3] चरण करण से युक्त साधु को अचित्त वस्तुओं के मौजूद होते हुए भी दान न दिया हो तो उसकी आलोचना आई है।

भगवान महावीर के समय में ब्राह्मणों को ही क्षेत्र-पात्र माना जाता और वे ही दान को पाने योग्य समझे जाते थे[4]। भगवान ने भिक्षा का अधिकार जाति पर न रख गुणों पर रक्खा था और कहा था कि जो पांच महाव्रतधारी, समितियों से संयुक्त और गुप्तियों से गुप्त है वही सच्चा पात्र है। इस बात की पुष्टि उत्तराध्ययन सूत्र के 'हरि केशीय' संवाद से होती है। हरिकेशी ब्रह्म यज्ञ में भिक्षा याचना करते हुए अपनी पात्रता का परिचय इस प्रकार देते हैं: 'मैं साधु हूं, ब्रह्मचारी हूं, संयमी हूं, धन परिग्रह और दूषित क्रियाओं से विरक्त हुआ हूं, और इसलिए दूसरों के लिए तैयार की हुई भिक्षा को देख कर

१—देखो भगवती सूत्र श० २ उ० ५

२—देखो हार्नल अनुवादित उवासगदसाओ में 'समासतस्य विवरणम्'-अ० १पेरा५६

३—देखो पं० सुखलालजी लिखित 'पंच प्रतिक्रमण सूत्र' नामक पुस्तक पृ० ११।

इस वक्त अन्न के लिए यहाँ आया हूँ [1]।' यहीं पर अपात्र कौन है इसका भी प्रसंगवश जिक्र आया है। क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, अदत्त और परिग्रह दोष जिसमें हैं—वह क्षेत्र पाप को बढ़ाने वाला है [2]। इस सब पर से यह साफ प्रगट है कि सर्व व्रतधारी साधु ही सत्पात्र माना जाता था और दान देने का विधान भी उसके प्रति ही था।

इस व्रत के जो अतिचार हैं वे भी उस समय ही सार्थक हो सकते हैं जब कि अतिथि का अर्थ सर्वव्रती साधु किया जाय। साधु के सिवा साधारण तौर पर श्रावकादि और किसी के सम्बन्ध में सचित्त निक्षेप आदि का कोई अर्थ नहीं निकलेगा।

अतः यह स्पष्ट है कि दान का पात्र साधु ही है और कोई नहीं।

(६) पात्र की तरह दानी भी गुणी होना चाहिए। वह यश-कीर्त्ति आदि लौकिक वृत्तियों से दान न करे, केवल आत्मिक कल्याण के लिए दान दे। वह दान में मुक्त-हस्त हो, आन्तरिक भावनाओं से दान दे, केवल झूठी अभ्यर्थना न करे। साधु को दान देने में अपना अहोभाग्य समझे, अत्यन्त हर्ष और उल्लास का अनुभव करे, उसका रोम-रोम विकशित हो। दान देकर पश्चात्ताप न करे, दुःख न करे। जितनी शक्ति हो उतना दान दे,

---

१—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १२।९

२— ,, अ० १२।१३,१४

उससे अधिक देने का बाहरी दिखावा न करें। अपने दान का दूसरों के सामने अभिमान न करे, सदा गंभीर रहे। मन में लोभ न रखे, दान देते हुए हिसाब न लगावे परन्तु उदार चित्त से भरपूर दान दें। मान और मत्सर रहित होकर दान दें। इस प्रकार उपरोक्त गुणों से सम्पन्न दानी—खरा दानी होता है। ऐसे दानी के लिए मुक्ति का द्वार खुला रहता है। —बारहवें व्रत की ढाल[1], ३।३१।

(७) पात्र और दानी की तरह दी जाने वाली वस्तु भी शुद्ध होनी चाहिए। दान हरेक वस्तु का नहीं दिया जा सकता। दान उसी वस्तु का दिया जाना चाहिए जो संयम की रक्षा का हेतु हो तथा जो उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करे। दिया जाने वाला द्रव्य प्रासुक, अचित और एषणीय होना चाहिए, ऐसा आगम में जगह-जगह वर्णन है। जो सूखा हो, उबाल लिया गया हो, नमकादि डाला हुआ हो, चक्कू छुरी आदि शस्त्रों से परिणित हो वह प्रासुक द्रव्य है। वस्तु साधु के ग्रहण योग्य भी होनी चाहिए। प्रायः कर अन्न, जल, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल, प्रतिग्रह, रजोहरण, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध और भेषज ये वस्तुएँ ही देय हैं। सोना-चांदी आदि का दान देना पाप का कारण है। उपरोक्त वस्तुएँ भी निर्दोष होने पर ही दी-ली जा सकती हैं अन्यथा देने वाला और

१—इस ढाल के लिए देखो "श्रावक धर्म विचार" नामक पुस्तक पृ० १२१-१२५

देने वाला (अगर वह जान कर देता हो) दोनों पाप के भागी होते हैं।

धर्म दान की परिभाषा

(८) इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण निर्ग्रन्थ-अनगार को निर्दोष, प्रासुक और कल्पनीक अनेक द्रव्य, योग्य काल और स्थान में विवेक पूर्वक केवल एक मात्र मुक्ति की कामना से हर्षित भावों से देना ही बारहवां व्रत अर्थात् निरवद्य दान है। —बा० व्र० गा० १-२।

धर्म दान और अधर्म को एकमेक कर देने में हानि

(९) उपरोक्त दान के सिवा जितने भी दान हैं, वे सावद्य हैं। परम ज्ञानी अरिहन्त भगवान ने निरवद्य दान की आज्ञा दी है। सावद्य दान में भगवान की आज्ञा हो नहीं सकती। —घा० दो० १। सावद्य दान में अंशमात्र भी धर्म नहीं है।

—अनु० १२।८०

(१०) श्री जिन आगम में ऐसा कहा है कि धर्म और अधर्म के कार्य—दोनों जुदे-जुदे हैं। धर्म करणी में जिन भगवान की आज्ञा है परन्तु अधर्म करणी में ऐसा नहीं है।

—च० त्रि० ढाल ३। दो० १

ये दोनों करणी जुदी-जुदी हैं। एक दूसरी से नहीं मिलती पर मूढ़ मिथ्यात्वी लोगों ने दोनों को भेल सम्भेल कर दिया है।

—च० वि० ३ दो० २

चतुर व्यापारी जहर और अमृत दोनों का विणज (व्यापार) करता है। वह दोनों को अलग-अलग रखता है और ग्राहक जो वस्तु मांगता है वही देता है दूसरी नहीं देता। —च० वि० ३। दो० ३

परन्तु विवेक रहित व्यापारी को वस्तु की पहचान नहीं होती वह दोनों को एक कर देता है—जहर में अमृत डाल देता है और अमृत में जहर -इस तरह वह दोनों को नष्ट करता है। इसी तरह धर्म के सम्बन्ध में भी समझो। —च० वि० ३। दो० ४५

जिस तरह जीभ की दवा आंख में डालने से और आंख की दवा जीभ के लगाने से आंख फूट जाती और जीभ फट जाती है और इस तरह मूर्ख दोनों इन्द्रियों को खो कर चल वसता है, ठीक इसी तरह जो अधर्म के काम को धर्म में सुमार करता है और धर्म के काम को अधर्म में- वह अज्ञानी दोनों ओर से डूबता हुआ दुर्गति में चला जाता है। —च० वि० ३।४-५

जो सावद्य कार्यों में धर्म समझता है और निरवद्य में पाप समझता है वह सावद्य-निरवद्य को नहीं पहचानता हुआ—अज्ञानी होने पर भी उलटी ताण करता है। —च० वि० ३।६

(११) जो यह कहता है कि सचित्त-अचित दोनों के देने में पुण्य है, शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार की वस्तुओं के देने में पुण्य है तथा पात्र-अपात्र दोनों को देने में पुण्य है—उसका मत बिलकुल मिथ्या है। —च० वि० ३।७

(१२) जो पात्र और अपात्र दोनों को देने में पुण्य की खींचातान करते हैं उन्होंने पात्र और अपात्र को एक समान

मान लिया है। जिस तरह कुगुरुपन्थी जब भोजन के लिए बैठते हैं तो सब एक ही कुंडे में खाते हैं—जात-पात का—अच्छे-बुरे का कोई भेद नहीं रखते हैं उसी प्रकार उपरोक्त मान्यता को रखनेवाले पात्र-अपात्र का भेद नहीं रखते हैं। जिस तरह कोई विचारवान कुण्डापन्थियों को न्यात-जात से भ्रष्ट समझता है उसी तरह उपरोक्त मान्यतावालों को ज्ञानी मिथ्या दृष्टि समझते हैं। —अ० वि० ३।८-११

(१३) वीर प्रभु ने सुपात्र को देने में धर्म और पुण्य दोनों बतलाया है, इसके विपरीत जो कुपात्र दान में धर्म बतलाते हैं वे बेचारे मनुष्य भव को यों ही खोते हैं। —अ० वि ३।१२

धर्म दान का फल

(१४) सुपात्र दान से तीन अमोल बातें होती हैं। संवर होता है—नए कर्मों का संचार नहीं होता, निर्जरा होती है—पुराने संचित कर्मों का क्षय होता है—तथा साथ-साथ पुण्योपार्जन होता है।

जो-जो वस्तु साधु को बहराई जाती है, उस-उस वस्तु की श्रावक के अव्रत नहीं रहती, जिससे उसके व्रत संवर होता है; तथा दान देते समय शुभ योगों के प्रवर्तन से निर्जरा होती है। शुभ योगों के वर्तन से निर्जरा के साथ-साथ पुण्य का बंध होता है। जिस तरह कि गेहूं के साथ खाखला उत्पन्न होता है ठीक उसी तरह निर्जरा के कार्य करने से पुण्य का सहज ही बंध होता है।

जो जितने ही उत्कृष्ट भावों से दान देता है उसके उतने ही अधिक कर्मों का क्षय होता है तथा पुण्य का बंध होता है यहां तक कि तीर्थंकर गोत्र तक का बंध हो जाता है।

यदि इन बंधे हुए पुण्य कर्मों का उदय इसी भव में हो जाय तो दान देनेवाले के दुःख दारिद्र्य दूर हो जाते हैं और उसको बहु ऋद्धि और सम्पत्ति प्राप्त होती है तथा उसके दिन बड़े सुख से व्यतीत होते हैं।

यदि ये पुण्य कर्म इस भव में उदय (फल अवस्था) में न आवें तो पर भव में अवश्य आते है, इसमें लेश भी शंका मत समझो। सत्पात्र दान से उच्च गोत्र के सुख मिलते हैं।

—बारहवें व्रत की ढाल गा० ३२-३७

दान की प्रशंसा क्यों ?

(१५) कई कहते हैं कि दान की जो इतनी प्रशंसा की है यह और कुछ नहीं केवल दान प्राप्त करने का तरीका है। जो सुध-बुध रहित हैं वे ही ऐसा कह सकते हैं, सच्चा श्रावक तो ऐसी हल्की बात भूल से भी नहीं निकालता।

जिसके दान देने के परिणाम—भाव होते हैं वह तो सुन-सुन कर हर्षित होता और कहता कि सद्गुरु ने मुझे शुद्ध दान की विधि बतला दी। —बारहवें व्रत की ढाल गा० ५९-६०

श्रावक का कर्त्तव्य

(१६) यदि कोई दूसरे को दान देते हुए देख कर उसे मना कर दान में विघ्न डालता है तो उसके उत्कृष्ट, कर्मों में प्रधान मोहनीय कर्म का बंध होता है इसलिए श्रावक ऐसा अन्याय नहीं करता। — बारहवें व्रत की ढाल गा० ५४

३

सावद्य दान

दान के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ :

उनकी भयंकरता

(१) कई नामधारी साधु श्रावक को सुपात्र कह कर उसके पोषण करने में धर्म की प्ररूपणा करते हैं; कई इसमें मिश्र कहते हैं; कई कहते हैं कि इसमें जीवों की हिंसा तो होती है परन्तु इतना खतरा उठाए बिना धर्म नहीं हो सकता अतः श्रावकों को पोषण करने के शुभ परिणामों से यदि आरम्भ करना पड़े तो उसमें पाप नहीं है—इस प्रकार वे परिणामों का नाम लेकर उपरोक्त मान्यता को पुष्ट करते हैं और कहते हैं कि न्यात को न्यौता देने और जीमाने में धर्म है। —च० वि० ३।११; अनु० १३।१५,

२।१२, १६

(२) परन्तु यह प्ररूपणा बड़ी भयंकर है, ऐसी प्ररूपणा करने वाले बिना विचारे बोलते हैं। उनकी जीभ तीखी तलवार की तरह बह रही है। —अनु० १३।१९। वे केवल भोले लोगों को भ्रम में डालते हैं। श्रावक भी उनको ऐसे मिले हैं जो इस श्रद्धान को सत्य समझ कर मान रहे हैं। परन्तु यह मान्यता मूल में ही मिथ्या है। जो श्रावक अपने जीवन के *गुण-अवगुण* नहीं समझ सकता उसके हृदय और ललाट दोनों की फूट चुकी है। अंधे को अंधा मिले तो कौन किस को रास्ता बतलावे? उसी प्रकार जैसे गुरु थे वैसे ही चेले मिल गये! जो श्रावक को एकान्त सुपात्र कहते हैं, उनकी अकल के आडी पाटी आ गई है। —च० वि० ३।१३-१६

कोई जीवों को मारने में पशोपेश भी करे वह भी इन कुगुरुओं के मुख से धर्म सुन कर तुरन्त आरम्भ करने पर तुल जाता है; इस प्रकार इनकी वाणी चलती हुई घाणी की तरह है।

—अनु० १३।२०

गरीब जीवों को मार कर धींगों को पोषण करने की बात बड़ी भयंकर है। जो दुष्ट इसमें धर्म की स्थापना करते हैं वे, बेचारे गरीब जीवों के लिए, भयानक वैरी की तरह उठे हैं। —अनु० १३।४। पिछले जन्मों के पापों के कारण ये बेचारे एकेन्द्रिय जीव हुए हैं। इन रंक जीवों के अशुभोदय से देखो! ये वेषधारी लोगों को साथ लेकर उनके पीछे पड़े हैं।

—अनु० १३।५

जो न्यात जिमाने में मोक्ष मार्ग बतलाते हैं, उन्हें शास्त्र शत्रु की तरह परगमे हैं; वे हिंसा को दृढ़ करते हुए कर्मों का बंधन करते हैं। —अनु० १३।११। न्यात जिमाने में धर्म मानना यह अनार्यों की श्रद्धा है। ऐसी प्ररूपणा से साधु के पाँचों महाव्रत भंग होते हैं। —ध० वि० ३।१०-११। ऐसे सिद्धान्तों के प्रचार से जीवों की हिंसा विशेष बढ़ती है, जो साधु ऐसी प्ररूपणा करता है वह, भेष धारण कर भ्रष्ट हुआ है, वह खुद डूबता है और औरों को भी डुबोता है। उसके अभ्यन्तर नेत्र फूट चुके हैं। वे दया-दया की तो पुकार मचाते हैं और उल्टे छः काय के जीवों की हिंसा की मंडी मांड रखी है। —अनु० १३।६, दो० २,३। नाना आरम्भ-सम्मारम्भ युक्त न्यात जिमाने के कार्य में धर्म बतलाना उस जीव के दुर्गति में जाने का लक्षण है।

—अनु० १३।८-९

पूजा और श्लाघा के भूखे ये हीनाचारी मिथ्या श्रद्धा को पकड़े हुए हैं, बहुत कर्मों के उदय से इन्हें सूई बात नहीं सूझती ये तो केवल कदाग्रह करने पर तुले हुए हैं। —च० वि० ११६१

रात में भूले हुओं की आशा रहती है कि सुबह होने पर उनका पता लग जायगा परन्तु जो दिन-दहाड़े भूल-भटक गये हैं उनके प्रति क्या आशा रखी जाय! —च० वि० ११६२

ये भाव मार्ग को भूल कर उजड़ जा रहे हैं। मन में ये मुक्ति रखते हैं परन्तु दिन-दिन उससे दूर पड़ते जा रहे हैं।

—च० वि० ११६२

सूत्र की चर्चा-वार्ता अलग रख लोक पक्षपात में पड़ गये हैं। ये तो जिधर अधिक लोग हैं उन्हीं के साथी हो गये हैं।

—च० वि० ११६४

कई-कई श्रावक भी झूठी पक्षपात करते हैं और इसमें धर्म बतलाते हैं। धर्म कहे बिना दुनिया देगी नहीं इसलिए कूड-कपट करते हैं। जो अपने पेट भरण के लिए अनर्थ झूठ बोलते हैं और परलोक की नहीं सोचते तथा कुगुरुओं की पक्षपात करते हैं वे मानव भव को यों ही खोते हैं। — च० वि० ११७७-७८,८१

श्रावक और न्यात जिमाने में अधर्म क्यों ?

इसका विवेचन

(३) अब मैं, श्रावक को दान देने और न्यात जिमाने में अधर्म कैसे है, उस पर विवेचन करूँगा, मुमुक्षु ध्यान पूर्वक सुनें।

(४) सूयगडांग सूत्र के अठारहवें अध्ययन में धर्म-अधर्म और मिश्र इन तीन पक्षों का विस्तार है। ये तीनों पक्ष भिन्न-भिन्न हैं। सर्व व्रती को धर्म पक्ष का सेवी कहा जाता है, अव्रती को अधर्म पक्ष का सेवी और व्रताव्रती श्रावक को धर्माधर्म पक्ष का सेवी कहा जाता है। —च० वि० २।३०-३१

(५) सुपात्रता-अपात्रता का सम्बन्ध व्रतों के साथ है। जो सर्व व्रती साधु है वह सम्पूर्ण सुपात्र है, अव्रती असंयमी अपात्र है, श्रावक व्रताव्रती होने से पात्रापत्र है।

(६) श्रावक गुण रूपी रत्नों का भण्डार कहा गया है, वह व्रतों के कारण ही; जहां तक व्रतों का सम्बन्ध है वहां तक

श्रावक सुपात्र है। अव्रत, श्रावक के जीवन की अधर्म पक्ष है। इस अव्रत के रहने से ही श्रावक छः ही काय के जीवों की हिंसा करता है। वह स्त्री सेवन करता है, कराता है, वह खुद ब्याह करता है दूसरों के ब्याह करवाता है; त्रिविध प्रकार से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह का सेवन करता है। श्रावक जीवन में लाखों बीघों की खेती करता है तथा करोड़ों मन जल निकालता है; वह कजियाखोर, धतकड़, मन चाहे जैसे बोलने वाला तथा गाली देनेवाला भी होता है; वह वाणिज्य-व्यापार में दगाफरेब भी करता है; बड़े-बड़े श्रावक हुए हैं उन्होंने रण-संग्रामों में हजारों-लाखों मनुष्यों का घमासान किया है। श्रावक का खाना-पीना, पहरना-ओढ़ना तथा और भी जो सावद्य कार्य हैं, उन सबका करना उसके जीवन की अधर्म पक्ष है—उसकी अपात्रता है। यदि कोई एक कौवे मात्र को मारने का त्याग करता है तो वह श्रावक की पंक्ति में आ जाता है परन्तु इतने से ही उसके जीवन में कोई पाप नहीं रहता, ऐसी बात नहीं है; और जो सभी सावद्य कार्य करता है उससे वह अपात्र है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये कहे जानेवाले तीनों प्रकार के श्रावक एक ही पंक्ति में हैं। इन तीनों के जीवन में जितनी-जितनी अव्रत है वह बुरी है। इस विषय में जरा भी शंका मत करो। —व्र० वि० ३।१७—२८, ३।१२, ३।८९,

व्रत के सिवा जो भी अव्रत श्रावक के जीवन में रहती है उससे वह केवल पाप का भागी होता है; जिन भगवान ने

अव्रत को आस्रव—कर्म आने का हेतु कहा है; अव्रत सेवन करना, कराना और उससे सहमत होना ये तीन ही पाप हैं। जिन भगवान ने कहा है कि व्रत में धर्म है और अव्रत में केवल पाप है—पाप पुण्य दोनों नहीं। —व्र० वि० ३।३२; अ० पा० दो० ३,४

कोई गृहस्थ किसी साधु से व्रत लेकर अपने घर चला। मार्ग में दो मित्र मिले। एक ने कहा 'तुम व्रत को अच्छी तरह से पालन करना जिससे आठों ही कर्मों का नाश हो, अनादि काल से रुलते-रुलते यह जिन भगवान का अमोलक धर्म हाथ आया है'। दूसरे ने कहा: 'तुम आगारिक हो। तुम्हारे अमुक-अमुक छूट है, तुम सचित्तादि खा सकते हो—अपने शरीर की हिफाजत रखना और कुटुम्ब आदि का प्रतिपालन करना।'

इन दोनों मित्रों में जो व्रत में दृढ़ रहने की सलाह देता है वह मित्र ही सच्चा हितैषी है। जिसने अव्रत पक्ष को अच्छी तरह सेवन करने की सलाह दी उसे ज्ञानी बुरा समझते हैं।

—व्र० वि० १।९०—९३

(७) साधु को जो दान देता है वह उसके संयमी जीवन को सहारा पहुँचाता है। साधु के कोई अव्रत नहीं होती। वह व्रती जीवन में ग्रहण करता है। —व्र० वि० १।७९। जो श्रावक को दान देता है वह उसके जीवन की, धर्म पक्ष को नहीं परन्तु अधर्म पक्ष को सेवन कराता है क्योंकि गृहस्थ अपने असंयमी जीवन में उसे लेता है। उसका खाना-पीना यह सब अव्रत है। उसको दान देना इसी पक्ष का सेवन कराना है।

आम और धतूरे के फल भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी के बगीचे में दोनों प्रकार के वृक्ष हों। आम की इच्छा से कोई धतूरे को सींचे तो उसका परिणाम क्या होगा? आम का वृक्ष सूखेगा और धतूरे का वृक्ष फलेगा। ठीक उसी तरह श्रावक के हृदय-रूपी बगीचे में व्रत-रूपी आम का वृक्ष और अव्रत रूपी धतूरे का वृक्ष होता है। जो श्रावक के व्रतों पर निगाह कर उसके अव्रत को सींचेगा—उसको सेवन करावेगा वह धर्म का पोषण नहीं पर हिंसा का सेवन करेगा—उसे आम की जगह धतूरे का फल मिलेगा। —अ० पा० ६-१०

(८) भगवान ने अठारह पाप बतलाए हैं। इनमें से एक भी पाप के सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने में धर्म नहीं है, इस बात में शंका को स्थान नहीं। यह बात सत्य मानना। थोड़े भी पाप का फल दुःखदायी होता है। पाप का फल सुख-दुःखमय हो नहीं सकता—ऐसा समझना ही भगवान के वचनों की सम्यक् प्रतीति है। —अ० पा० १,२

(९) जो श्रावक को भोजन आदि देता है वह उसके असंयमीपन में ही देता है।[1] असंयती को दान देने का फल अच्छा

१—श्रावक जो हर प्रकार की सचित्त-अचित्त, अपने लिए बनाई हुई वस्तुएं—भोजन सामग्री में ग्रहण करता है वह यदि संयमी होता तो निश्चय ही ग्रहण नहीं करता, जिस तरह की संयमी साधु अपने लिए बनाई हुई चीजें ग्रहण नहीं करता। इससे भी यह साबित होता है कि श्रावक अमुक अंश में ही असंयमी होने से इन्हें ग्रहण करता है।

नहीं हो सकता। भगवान ने भगवती सूत्र के आठवें शतक के छट्ठे उद्देशक में असंयती को दान देने में एकान्त पाप बतलाया है। जो श्रावक को दान देने की प्रशसा करते हैं वे परमार्थ को नहीं जानते। श्रावक के जीवन में जो अधर्म पक्ष होती है—पापों से अमुक अंशों में जो अविरति होती है– वह उसका असंयमी जीवन है। दान से इसी जीवन का पोषण होता है। —च० वि० ३।३६-३८। 'जो अव्रत-सेवन करता है उसके कर्मों का बंध होता है'—यह श्रद्धान सत्य है। जो कर्म के वश इसमें धर्म ठहराता है उसकी बुद्धि उल्टी है।

—च० वि० ९।५

(१०) कान आदि इन्द्रियों के विषयों के सेवन में पाप है। विषय सेवन कराने और अनुमोदन करने में भी पाप है—ऐसा खुद जिन भगवान ने कहा है। —च० वि० ३।३४

जो श्रावक की रसेन्द्रिय का पोषण करता है वह, उसे तेवीसों विषयों का सेवन कराता है। उसमें जो धर्म बतलाता है वह मिथ्यात्वी विश्वाबीस डूबता है। —च० वि० ३।३५

खाना-पीना, पहरना-ओढ़ना ये सब गृहस्थों के काम भोग हैं। जो गृहस्थ के इन सब वस्तुओं की वृद्धि करता है वह उसके पाप कर्मों का बंध बढ़ाता है। गृहस्थ के जितने भी काम भोग हैं वे सब दुःख और दुःख की जन्म भूमि हैं। भगवान ने इन काम भोगों को उत्तराध्ययन सूत्र में किम्पाक फल की उपमा दी है। जो धर्म समझ कर इनका सेवन करता या कराता है

आम और धतूरे के फल भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी के बगीचे में दोनों प्रकार के वृक्ष हों। आम की इच्छा से कोई धतूरे को सींचे तो इसका परिणाम क्या होगा? आम का वृक्ष सूखेगा और धतूरे का वृक्ष फलेगा। ठीक इसी तरह श्रावक के द्रव्य-रूपी बगीचे में व्रत-रूपी आम का वृक्ष और अव्रत रूपी धतूरे का वृक्ष होता है। जो श्रावक के व्रतों पर निगाह कर उसके अव्रत को सींचेगा—उसका सेवन करायेगा वह धर्म का पोषण नहीं पर हिंसा का सेवन करेगा—उसे आम की जगह धतूरे का फल मिलेगा। अ० पा० ९-१०

(८) भगवान ने अठारह पाप बतलाए हैं। इनमें से एक भी पाप के सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने में धर्म नहीं है, इस बात में शंका को स्थान नहीं। यह बात सत्य मानना। थोड़े भी पाप का फल दुःखदायी होता है। पाप का फल सुख-दुःसमय हो नहीं सकता—ऐसा समझना ही भगवान के वचनों की सम्यक् प्रतीति है। —अ० पा० १,२

(९) जो श्रावक को भोजन आदि देता है वह उसके अधर्मीपन में ही देता है।[१] असंयती को दान देने का फल अच्छा

१—श्रावक जो हर प्रकार की सचित्त-अचित्त, अपने लिए बनाई हुई वस्तुएँ—भोजन सामग्री में ग्रहण करता है वह यदि संयमी होता तो निश्चय ही ग्रहण नहीं करता, जिस तरह की संयमी साधु अपने लिए बनाई हुई चीजें ग्रहण नहीं करता। इससे भी यह साबित होता है कि श्रावक अमुक अंश में ही अव्रती होने से इन्हें ग्रहण करता है।

नहीं हो सकता। भगवान ने भगवती सूत्र के आठवें शतक के छट्ठे उद्देशक में असंयती को दान देने में एकान्त पाप बतलाया है। जो श्रावक को दान देने की प्रशंसा करते हैं वे परमार्थ को नहीं जानते। श्रावक के जीवन में जो अधर्म पक्ष होती है—पापों से अमुक अंशों में जो अविरति होती है- वह उसका असंयमी जीवन है। दान से इसी जीवन का पोषण होता है। —ध० वि० ३।३६-३८। 'जो अव्रत-सेवन करता है उसके कर्मों का बंध होता है'—यह श्रद्धान सत्य है। जो कर्म के वश इसमें धर्म ठहराता है उसकी बुद्धि उलटी है।

—च० त्रि० ११५

(१०) कान आदि इन्द्रियों के विषयों के सेवन में पाप है। विषय सेवन कराने और अनुमोदन करने में भी पाप है—ऐसा खुद जिन भगवान ने कहा है। —ध० वि० ३।२४

जो श्रावक की रसेन्द्रिय का पोषण करता है वह, उसे तेवीसों विषयों का सेवन कराता है। उसमें जो धर्म बतलाता है वह मिथ्यात्वी विश्वावीस डूबता है। —ध० वि० ३।२५

खाना-पीना, पहरना-ओढ़ना ये सब गृहस्थों के काम भोग हैं। जो गृहस्थ के इन सब वस्तुओं की वृद्धि करता है वह उसके पाप कर्मों का बंध बढ़ाता है। गृहस्थ के जितने भी काम भोग हैं वे सब दुःख और दुःख की जन्म भूमि हैं। भगवान ने इन काम भोगों को उत्तराध्ययन सूत्र में किम्पाक फल की उपमा दी है। जो धर्म समझ कर इनका सेवन करता या कराता है

उसके पाप कर्मों का बंधन होता है। समदृष्टि, इसमें धर्म नहीं समझते। —अनु० १२।४२-४४

(११) न्यात को जिमाने में अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ करने पड़ते हैं। वनस्पति का छेदन-भेदन करना पड़ता है; जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी इन सब अनन्त जीवों की घात करनी पड़ती है। दलने, पीसने, पोने, पकाने, चूल्हे जलाने आदि में अनन्त जीवों का बिना हिसाब विनाश होता है। इस प्रकार महा आरम्भ कर न्यात जिमानेवाले को धर्म किस प्रकार होगा ? —अनु० १३।१२-१३

जो नाना प्रकार के आरम्भ करता है उसे भगवान ने हिंसा का पाप बतलाया है। जो अपने लिए तैयार की हुई नाना आरम्भ जात वस्तुओं का भोजन करता है उसे भी अव्रत सेवन करने से पाप होता है, फिर जिसने आरम्भ करवाया है और न्यात को जिमाया है उसे पाप कैसे न होगा ? वही तो रसोई बनाने वाले और भोजन करनेवालों के बीच दलाल है। —अनु० १३।१६-१८

श्रावक दान के लिए पात्र नहीं इसके

कुछ भीतरी (internal) प्रमाणः

(१२) श्रावक दान के लिए पात्र है या नहीं इसका निर्णय एक और तरह से भी हो सकता है।

श्रमण निर्ग्रन्थ को दान देने का विधान बारहवें व्रत में है। ऐसे दान से दानी संसार को घटाता है। ऐसे दानी की भगवान ने प्रशंसा की है। —व० वि० १।१३

यह दान देना ऐसा उत्तम काम है कि सामायिक, संवर और पोषह में भी श्रावक साधु को वहराता है। परन्तु ऐसा व्यवहार प्रचलित है कि तीन दिन का उपवासी भी कोई गृहस्थ या भिखारी आवे तो श्रावक इन क्रियाओं में उसको दान नहीं देगा। —च० वि० ११४

सामायिक आदि में सावद्य कार्यों का त्याग रहता है। साधु को यथा विधि दान देना निरवद्य कार्य है, अतः सामायिक आदि क्रियाओं के करते समय दान देने में कोई बाधा नहीं आती; परन्तु श्रावक को अन्नादि देना सावद्य कार्य है। वह बारहवें व्रत में नहीं है। यह कार्य जिन आज्ञा के बाहर है। इसलिए सामायिक आदि में नहीं किया जा सकता अन्यथा साधु को दान देने की तरह यह भी किया जा सकता।

—च० वि० ११५

सामायिक, संवर, पोषह और बारहवां व्रत ये चार श्रावक के विश्रामस्थल हैं। इनमें श्रावक को देना छोड़ा गया है वह पाप समझ कर ही। जिन आज्ञा को प्रमुख कर ही इन विश्राम स्थानों में सावद्य प्रवृत्ति रूपी बोझ को उतार कर अलग रख दिया गया है। —च० वि० ११६

यदि साधु के कदाश आहार पानी अधिक आ जाता है तो वह एकान्त में जाकर उस आहार को परठ देता है, परन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक के मांगने पर भी उसे नहीं देता— इसका क्या परमार्थ है? जमीन में परठने में तो व्रत की रक्षा

होती है परन्तु देने में अव्रत होता है, क्योंकि जो मूल पांच महाव्रत हैं उन्हीं का निरोभाव होता है। जमीन में गड़ने पर वह किसी के काम नहीं आता, फिर भी ऐसा करना पाप मूलक नहीं है, परन्तु गृहस्थादि को देने, दिराने और देने में भला समझने में साधु श्रावक के जीवन की सावद्य पक्ष को—अव्रत को सींचता है। —भ० वि १।८६-८८। इससे यह साबित है कि श्रावक पात्र नहीं है।

अन्न-पुण्य, जल-पुण्य आदि नौ प्रकार पुण्य कहे हैं। जो यह कहते हैं कि श्रावक को अन्न, जल आदि देना चाहिये इससे पुण्य संचय होता है उनके अनुसार तो बाकी की बातें भी श्रावक के प्रति करने योग्य हैं! नौ पुण्यों में एक पुण्य नमस्कार-पुण्य है। नवकार मंत्र के पांच पदों में श्रावक को स्थान नहीं है, केवल साधु को ही है। इससे यह प्रगट है कि नमस्कार-पुण्य साधु के प्रति आचरणीय है— गृहस्थ के प्रति नहीं। गृहस्थ को नमस्कार करने की भगवान की आज्ञा नहीं है—यह प्रगट है। उसी प्रकार और सब बोल भी साधु के प्रति ही आचरणीय हैं। इसका खुलासा और भी एक तरह से होता है। —च० वि० १।२४, १।७१

अन्न, जल, वस्त्र, शय्या आदि जो-जो वस्तुएं साधु ग्रहण कर सकता है या श्रावक साधु को दे सकता है उन्हीं को देना प्रथम पांच पुण्यों में बतलाया है; परन्तु गाय-भैंस, धन-धान्य, जगह-जमीन आदि द्रव्यों को देने में पुण्य नहीं बतलाया है, इसका क्या रहस्य है? कहने का तात्पर्य यह है कि यदि ये पुण्य के

कार्य श्रावक के प्रति करने के होते तो गाय-भैंसादि चीजों का भी उल्लेख होता। इस तरह यह एक भीतरी (internal) सबूत है कि श्रावक पात्र की कोटी में नहीं है। —च० वि० ११२६

ये जो पुण्य प्राप्ति के उपाय है वे किस के प्रति आचरणीय हैं यह निर्णय जिसको नहीं है वह बड़ा भोला है। श्रावकों के प्रति जो इन नवों ही बातों के आचरण में धर्म या पुण्य नहीं बतलाते परन्तु एक या दो बातों में ही बतलाते हैं उनकी मान्यता मिथ्या तथा परस्पर विरोधी है। —च० वि० ११२५

उपरोक्त विवेचन की उदाहरणों से पुष्टि

(१३) नन्दन मणियारे ने भगवान के पास से सम्यक्त और श्रमणोपासक के धर्म को स्वीकार किया। फिर असंयमीओं की संगत से अपने संयम में धीरे-धीरे शिथिल होकर उसने उलटा मार्ग ग्रहण किया। एक बार उसने तीन दिन का उपवास कर तीन पोषध ठान दिये। तीसरे दिन उसे अत्यन्त भूख और प्यास लगी। उस समय उसके विचार आया कि, जो लोगों के पीने तथा स्नानादि के लिए वाव तथा तलाव आदि खुदवाते हैं वे धन्य-धन्य हैं। उन्होंने अपना जन्म सफल किया है। इस प्रकार नन्दन मणियारे ने समकित खो दी—उसने सच्ची श्रद्धा को भंग कर दिया। दूसरे दिन राजा श्रेणिक की रजा लेकर उसने एक पुष्करणी खुदवाई तथा एक दानशाला बनवाई। इस प्रकार धन खर्च कर उसने लोगों मे यश प्राप्त किया। बाद में एक बार

इसके एक साथ सोलह रोग उत्पन्न हुए और वह आर्त ध्यान करता हुआ मरणान्त को प्राप्त हुआ तथा मेंढक का भव धारण कर अपनी ही बनाई हुई बावड़ी में ही जाकर उत्पन्न हुआ।

च० वि० १४०१—०६

वेदवादी ब्राह्मण ने आर्द्रकुमार को कहा था कि जो हमेशा दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को जिमाता है वह पुण्य राशि संचय कर देव होता है। यह वेद वाक्य है। इसलिए तुम शाक्य धर्म को छोड़ कर हमारा ब्राह्मण और ब्राह्मण धर्म को सुनो। च० वि० १४००

आर्द्रकुमार ने उत्तर में कहा था कि बिल्ली की तरह रसके गृद्ध इन दो हजार ब्राह्मणों को रोज-रोज जिमानेवाला नरक में जायगा। सूयगडांग इस बात का साक्षी है। यहाँ पर इस कार्य में धर्म-पुण्य का अंश नहीं बतलाया है।

—च० वि० १४०६-०८

भृगु पुरोहित ने अपने बच्चों से कहा था कि तुम लोग वेद पढ़ कर, ब्राह्मणों को जिमा कर तथा स्त्रियों के साथ भोग-भोग कर तथा पुत्रों को घर की व्यवस्था सौंप कर फिर संयमी जीवन धारण करना। इसके उत्तर में लड़कों ने कहा था कि ब्राह्मणों[1] को खिलाने से तमतमा मिलती है। इसका पूरा विवरण उत्तराध्ययन सूत्र के १४ वें अध्ययन में है। यह कार्य प्रत्यक्ष सावद्य होने से ही ऐसा कहा है। —च० वि० १४५५।६०

१—'ब्राह्मण' – अर्थात् जिनमें अहिंसा आदि पाँच महाव्रत न हों।

आनन्द श्रावक ने बारह व्रत धारण करने के उपरान्त ऐसा अभिग्रह भगवान महावीर के सम्मुख लिया था कि वह अन्य तीर्थी को दान न देगा, इसका क्या रहस्य है? उसने जो छः प्रकार के आगार (छूट) रखे थे वह उसकी कमजोरी थी। सामायिक संवर आदि में छः प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी श्रावक को दान नहीं दिया जाता। —भ्र०वि० ५२०-२१

परदेशी राजा के दृष्टान्त का सम्यक् बोध

(१४) कई कहते हैं: 'परदेशी राजा ने दानशाला स्थापित की थी इसलिए सार्वजनिक दान में पुण्य है'। परन्तु ऐसी बात नहीं है। दानशाला खड़ी की इसमें कोई मोक्ष हेतु मत समझो। परदेशी राजा ने केशी स्वामी से कहा कि मेरा चित्त वैरागी हो गया है। मेरे सात सहस्र गांव खालसे हैं। उनको मैं चार भागों में बांटता हूं और एक भाग राणियों के लिए, दूसरा खजाने के लिए, तीसरा हाथी घोड़ों के लिए और एक भाग दान देने के लिए नियत करता हूं। चारों भागों को सावद्य कार्यों के लिए जान कर केशी स्वामी एक की भी प्रशंसा न करते हुए चुपचाप रहे। उन्होंने इन कार्यों में हिंसा समझी।

परदेशी राजाने जो दानशाला खड़ी की थी उसमें सात सहस्र गांव जो उसके थे उनकी आमदनी का चौथाई भाग दान में दिया जाता था। ये चार भाग कर वह तो निरवाला हो गया। उसने फिर कभी राज्य की सुध भी न ली और मुक्ति के सम्मुख रहा। ५ तो उसने दूसरों को सौंप दिया और बाद में

उसकी खबर भी न ली। उसने केवल १४ प्रकार का दान देना अपने हाथ में रखा।

दान के निमित साढ़े सात सौ गांव थे। जिनमें से प्रति दिन ५ गांव की पैदाइश का भोजन बनाकर जगह-जगह दानशालाओं में बांटा जाने लगा। उस समय एक-एक गांव की पैदाइश दस सहस्र मन के अनुमान मानी जाय तो पांच गांव की दैनिक पैदाइश ५० हजार मन धान हो। इस तरह एक वर्ष में प्रायः पौने दो करोड़ मन धान होता है। इतने धान को पकाने में लगभग पांच करोड़ मन जल की दरकार होगी। अग्नि के लिए एक करोड़ मन अन्दाज लकड़ी की खर्च होगी और नमक छः लाख मन के करीब खर्च होगा। इस तरह रोज जो हजारों मन अन्न पकता था उसके लिए हजारों मन अग्नि और पानी की दरकार होती थी। नमक भी मनो ही खर्च होता तथा वायुकाय का भी बहुत बड़ा घमासान (नाश) होता था। जल में चलते-फिरते जीव भी होते हैं। धान और वनस्पति पकाने में उनका नाश होता है। इस तरह छः प्रकार के ही अनन्त जीवों की नित प्रति घात में जो पाप नहीं मानता उसने निश्चय ही तत्त्वों को उलटा ग्रहण किया है। ऐसा जो दुष्ट हिंसा धर्मी जीव है उसके घट में घोर अंधकार है, वह निश्चय ही असाधु है। —जि० आ० २।१५-२१; च० वि० १।१८-१९

(१५) एक ने अपने समूचे धन-वैभव का प्रत्याख्यान कर दिया और दूसरे ने दानशाला स्थापित कर दी। दोनों में से किसने भगवान की आज्ञा का पालन किया? कौन-सा साधु —ी दृष्टि में प्रशंसा का पात्र है? —च० वि० १।२२

सावद्य दान की हेयता

(१६) जो वारवार सावद्य दान की प्रशंसा को उत्तेजन देते रहते हैं वे छः ही काय के जीवों के घाती हैं--ऐसा सूयगडांग सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में कहा है। मिथ्यात्वी जीव इसका रहस्य नहीं समझते। —च० त्रि० ११।१७

(१७) कई नामधारी साधु किसी को रुपया खर्च करते देखते हैं तो उसे कहते हैं —'तुम हिसाब कर-कर खर्च करो तथा यह जो श्रावक सुपात्र है उसको विशेष दान दो। पडिमाधारी श्रावक को ग्रहण योग्य वस्तु देकर तीर्थंकर गोत्र का बंध करो'। ऐसा कहनेवाले कृत्यकृत्य कैसे होंगे ? जो आगारी को सुपात्र कह -कह कर उसे, इच्छा कर, सहायता दिराते हैं उनके घोर अन्धकार है—उसे सम्यक्त्व किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। —च० वि० ११८४

वेपधारी, सावद्य (हिंसापूर्ण) दान में, धर्म की प्ररूपणा करते हैं; ऐसे दान से दया का लोप होता है, क्योंकि उसमें जीव हिंसा है। यदि छः काय के जीवों की रक्षा करना दया है तब सावद्य दान टिक नहीं सकता। —जि० आ०[१] २।४०

यदि कोई छः प्रकार के जीवों के प्राण लेकर संसार में दान करे तो उसके हृदय में छः काय के जीवों के प्रति दयाभाव नहीं रहेगा और यदि कोई, छः काय के जीवों की रक्षा की दृष्टि से

१—अर्थात्—'जिन आज्ञा को चौढालियो'। इसके लिए देखो 'जैन दर्शन प्रकाश' पृ० १५३-१८७।

सावद्य दान को रोके तो दान का लोप होगा। इसलिए इन दोनों प्रसंगों से दूर रहने में आत्मिक गुण है। —व्रि० आ० २।४०-४१

जिस दान में छः काय के जीवों का नाश है उस दान को देकर कोई मुक्ति नहीं जा सकता; और यदि कोई सावद्य दान को रोक कर जीवों की रक्षा करे तो उससे भी कर्म नहीं कटेगा, क्योंकि इससे दूसरों को अन्तराय पहुँचेगा। —व्रि० आ० २।४३

सावद्य दान देने से दया का विनाश होता है और सावद्य दया से अभयदान का लोप होता है। सावद्य दान और दया दोनों संसार वृद्धि के कारण हैं, जो इसको अच्छी तरह समझता है, वह बुद्धिमान है। —व्रि० आ० २।४८

जो देव, गुरु और धर्म के लिए छः काय की हिंसा करता है वह मूढ़ है। वह कुगुरु का बहकाया हुआ जिन मार्ग से विपरीत पड़ गया है। —च० व्रि० १।२५। आरम्भ पूर्ण कार्यों में जिसको हर्ष का अनुभव होता है उसके बोध बीज का नाश होता है। सम्यग्दृष्टि धर्म के लिए कभी भी थोड़ा-सा भी पाप नहीं करता—ऐसा वीर भगवान ने आचाराङ्ग में कहा है। जो एकेन्द्रियों को मार कर पंचेन्द्रियों का पोषण करता है वह निश्चय ही भारी कर्मों का बंध करता है। उसने प्रगट रूप से मच्छगलागल मचा दी है। पाखण्डियों का धर्म ऐसा ही है। —च० व्रि० १।२६-२८

लोही से रंगा हुआ वस्त्र लोही से धोने से साफ नहीं हो सकता उसी प्रकार हिंसा में धर्म कहाँ है कि उससे आत्मा उज्ज्वल हो।

—च० व्रि० १।३९

४

दान और साधु का कर्त्तव्यः

(१) यदि साधु को मालूम हो या वह सुने कि गृहस्थ के यहाँ जो भोजन बना है वह दूसरों को दान देने के लिए बनाया है तो संयमी उसे अकल्पनीय समझता हुआ ग्रहण न करे।

(२) इसी तरह दूसरे श्रमणों या भिखारियों के लिए बनाया हुआ भोजन संयमी ग्रहण नहीं करे।

(३) इसी तरह याचकों के लिए जो आहार आदि बनाया गया हो उसे संयमी ग्रहण न करे।

(४) इसी तरह अन्य मत के साधुओं के लिए बनाया हुआ आहार पानी संयमी ग्रहण न करे।

(५) भिक्षु, छोटे-बड़े पशु-पक्षी चरने या चुगने के लिये एकत्रित हुए हों तो उनके सामने से न जा, उपयोगपूर्वक दूसरे रास्ते से चला जाय।

(६) गोचरी गया हुआ भिक्षु, दूसरे धर्म के अनुयायी श्रमण, ब्राह्मण, कृपण या भिखारी को, अन्नादि के लिए, किसी के द्वार पर खड़ा देखे तो उसे उलंघ कर न जाय परन्तु उसकी दृष्टि को बचाते हुए दूर खड़ा रहे और उसके चले जाने के बाद भिक्षा के लिए उपस्थित हो।

(७) जिन घरों में हमेशा अन्नदान दिया जाता हो, या शुरुआत में देव आदि के लिए अग्रपिंड अलग निकालने का नियम हो, या भोजन का आधा या चौथा भाग दान में दिया जाता हो, और उसके कारण बहुत याचक हमेशा वहां एकत्रित होते हों, वहां साधु को भिक्षा मांगने के लिए कभी नहीं जाना चाहिए।

(८) इस प्रकार संयमी भिक्षु किसी के दान-प्राप्त करने में बाधा-स्वरूप न होता—अन्तराय स्वरूप न होता हुआ भिक्षा चर्या करे।

(९) दान दो प्रकार के हैं: निरवद्य और सावद्य। हर्ष पूर्वक सुपात्र को अन्नादि निर्दोष और कल्पनीय वस्तुओं का दान देना निरवद्य दान है। यह भगवान की आज्ञा में है और सब दान सावद्य हैं। वे भगवान की आज्ञा में नहीं हैं। सावद्य दान संसार वृद्धि का कारण है; निरवद्य दान मुक्ति का मार्ग है। सावद्य और निरवद्य दान भिन्न २ हैं। वे कभी एक-मेक नहीं हो सकते। —च० वि० २।३

(१०) निरवद्य दान प्रशंसनीय है। कोई हिंसा करता हो

तो उसका किसी प्रकार अनुमोदन नहीं करना चाहिये, इसलिए सावद्य दान प्रशंसा योग्य नहीं है।

(११) गांव में बहुत लोग दान पुण्य के निमित्त भोजन तैयार करते हैं। ऐसे प्रसंग पर इसमें 'पुण्य है' अथवा 'नहीं है' ये दोनों ही उत्तर नहीं देता हुआ साधु कर्म से अलग रह कर निर्वाण को प्राप्त करता है।

(१२) ऐसे प्रसंगों पर साधु को मौन रहना चाहिए—इस बात का सहारा लेकर कई दार्शनिक कहते हैं कि दान-पुण्य के निमित्त भोजनादि जो तैयार किया जाता है उसमें पुण्य और पाप दोनों होता है—आरम्भ से पाप होता है और दान से पुण्य—इसीलिए साधु को मौन रहने को कहा है। अगर ऐसे दान में एकान्त पाप होता तो भगवान मौन रहने को नहीं कहते परन्तु उसका निषेध करते। इसलिए ऐसे दानों का निषेध नहीं करना चाहिए।

(१३) सूयगडांग सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन की छः गाथा—१६ से २१ वीं—में दान का निचोड़ किया है; इन गाथाओं का अर्थ साफ है परन्तु विवेक विकल, उपरोक्त मिश्र की मान्यता को पुष्ट करने के लिए उनका उलटा अर्थ करते हैं। इन गाथाओं का परमार्थ बतलाता हूँ बुद्धिमान निर्णय करें।

(१४) दान के लिए कोई जीवों की हिंसा करता हो तो साधु उसे कभी अच्छा नहीं जानता। कोई कुए, पौ, तलाव आदि खुदवाने और दानशाला खुलवाने में लगा हो और

इसमें धर्म मानता हो—वह यदि साधु को आकर पूछे कि मेरे इन कार्यों से मुझे पुण्य होता है कि नहीं, तब साधु को विचार-पूर्वक मौन कर लेना चाहिए। साधु—'तुम्हें पुण्य होता है' यह भी न कहे और यह भी न कहे—'तुम्हें पुण्य नहीं होता'। इसका कारण यह है कि दोनों ही बातें कहना कहनेवाले के लिए महाभय की कारण हैं। —च० वि० ढा० २।५-६-७

(१५) दान के लिए लोग अनेक त्रस स्थावर जीवों की घात करते हैं। पुण्य कहने से इन जीवों के प्रति दया भाव उठता है। जिस दान में दया नहीं है उसमें पुण्य नहीं हो सकता यह प्रकट है।—च० वि० ढा० २।८

अन्न-पानी का यह आरम्भ असंयति जीवों को उद्देश कर किया जाता है। यदि इसमें पुण्य नहीं है—ऐसा कहा जाय तो इन प्राणियों को अन्न-पान आदि की अन्तराय होती है। यही कारण समझ कर साधु मौन रहता है। —च० वि० ढा० २।९

(१६) दूसरे के लाभ में साधु कभी अन्तराय नहीं डालता इसलिए ऐसे प्रसंगों पर वह जीभ भी नहीं हिलाता—अर्थात पुण्य है या नहीं है इसकी चर्चा न कर मौन रहता है।

—च० वि० ढा०, २।१०

(१७) 'जो दान की प्रशंसा करता है वह प्राणियों के वध का अनुमोदन करता है और जो इसका निषेध करता है यह जीवों की आजीविका का छेद करता है।'—ऐसा सूयगडांग में कहा है। इस प्रकार दोनों ओर दिवाला देख कर—साधु मौन

रहता है। जीव-हिंसा के अनुमोदन से असाता वेदनीय का बन्ध होता है, अन्तराय पहुँचाने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है। जो मौन रह कर मध्यस्थ रहता है वह इन दोनों ओर से आते हुए कर्मों से बच कर निर्वाण को प्राप्त करता है। मौन रहने का परमार्थ यही है दूसरा नहीं। ऐसे दानों में मिश्र—पुण्य-पाप दोनों बतलाना मिथ्यात्व है।

(१८) ऊपर में साफ कहा है कि जो दान की प्रशंसा करता है वह छः काय का घाती है। फिर देने-दिलवाने वालों का तो कहना ही क्या? वे भी प्रशंसा करनेवाले के साथी हैं—अर्थात् हिंसक हैं और पाप के भागी हैं। —व० वि० ढा० २।११

(१९) जो हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील की प्रशंसा करते हैं वे कालीधार डूबते हैं, फिर इन पापों का आचरण करने और करानेवालों का उद्धार किस प्रकार होगा?

—व० वि० ढा० २।१२

(२०) सावद्य दान की प्रशंसा करनेवाले को भगवान ने छः काया का घाती कहा है फिर भी जो देनेवाले को मिश्र कहते हैं वे मूर्ख—मिथ्यात्वी हैं। —व० वि० ढा० २।१४

(२१) जिस काम की सराहना करने से मनुष्य डूबता है वह काम अवश्य ही बुरा है। उसके करने से मनुष्य गहरा डूबेगा इसमें सन्देह नहीं है। यह सच्ची श्रद्धा सुन कर इसे दृढ़तापूर्वक धारण कर अभ्यन्तर शल्य को निकाल फेंको।

—व० वि० ढा० २।१५

(२२) भगवान ने सावद्य दान की प्रशंसा के जिस तरह बुरे फल बतलाए हैं उसी तरह यह भी कहा है कि साधु को दान का निषेध नहीं करना चाहिए। इसका भी न्याय-- परमार्थ सुन लो। - व० वि० ढा० २।१६

(२३) निषेध नहीं करना इसका तात्पर्य यह है कि दातार दान दे रहा हो और याचक हर्ष पूर्वक ले रहा हो तो साधु उस समय दातार को यह न कहे कि इसे मत दो—इसमें पाप है। इस तरह दान देते समय यदि साधु निषेध करे तो याचक के अन्तराय पड़ती है जिसके फल बहुत कड़ुए होते हैं। इसी कारण से निषेध करने की मनाई है। अन्यथा सावद्य दान का बुरा फल सूत्रों में बतलाया गया है--इसका बुद्धिमान जाँच कर सकते हैं। —व० वि० ढा० २।१९; व्रि० आ० २।१८

(२४) यह जो मौन रहने की बात कही है वह किसी वर्त्तमान प्रसंग के अवसर पर ही। यदि सैद्धान्तिक चर्चा का काम पड़े तो ऐसे कार्य में जैसा फल हो वैसा साधु को बतलाना चाहिए। —व० वि० ढाल २।१९,१०

जब कोई इस बात की धारणा के लिए प्रश्न पूछे कि ऐसे कार्यों में पुण्य है या नहीं उस समय साधु निःसंकोच भाव से उसका विवेचन करे तथा इन कामों में पाप बतला कर उन्हें छोड़ने का उपदेश करे। उस समय यदि खुले दिल से वह यह कहने में संकोच करे कि इनमें पुण्य नहीं है तब तो सत् सिद्धान्त

का प्रचार ही नहीं हो—मिथ्यात्व रूपी अन्धकार कैसे मिटे ?

—च० वि० ढाल २।२०

(२५) यहाँ जो 'पुण्य है' या 'नहीं है' इन दोनों में से एक भी भाषा न बोलने का कहा है वह भी वर्त्तमान काल को लेकर—यह विचार कर देख सकते हो। —च० वि० ढा० २।२१। उपदेश में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव देखे तो उसके यथातथ्य फल का विवेचन कर सकता है। —च० वि० ढा० २।३५

(२६) कई-कई कहते हैं कि जो सावद्य दान में पाप बतलाता है वह देने की मनाई करता है। जो इस प्रकार दोनों भाषा को एक मानता है वह भाषा का अजानकार है। वह सावद्य दान की पुष्टि के लिए ऐसी ऊंधी बात कहता है।

—च० वि० ढा० २।३७-३८

(२७) जो दान देते हुए को यह कहता है कि तुम फलों को मत दो, उसी के सम्बन्ध में, यह कहा जा सकता है कि, उसने दान का निषेध किया है—देने की मनाही की है। यदि सावद्य दान में पाप है और उसमें कोई पाप बतलाता है तो यह समझना चाहिए कि उसका ज्ञान बड़ा निर्मल है। —च०वि० ढा० २।३९

(२८) भगवान ने असंयति को दान देने में पाप बतलाया है परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने दान को निषेध किया या रोका है। च० वि० ढा० २।४०

(२९) किसी ने साधु से कहा कि आज पीछे तुम मेरे घर कभी मत आना; और किसी ने उसे कड़े वचन कहे। अब साधु

पहिले घर में कभी नहीं जायगा परन्तु दूसरे घर जा भी सकता है। जिस तरह उसे निषेध करना और उसे कड़ी बात कहना ये दोनों अलग-अलग बातें हैं उसी तरह कोई दान देते हुए को मना करता है और कोई सावद्य दान में पाप बतलाता है ये, दोनों वचन भिन्न-भिन्न हैं—एकार्थ नहीं है। —व० वि० ढा० २।४१-४२

३

जिन आज्ञा

आज्ञा में ही प्रभु का धर्म है। — आचाराङ्ग ६।२

× + + +

तीर्थंकर भाषित सद्धर्म द्वीप तुल्य है। जिस तरह द्वीप पर ठहरने वाला प्राणी समुद्र के जल से नहीं छुआ जा सकता उसी तरह जिन भाषित धर्म का पालन करने वाला पाप से नहीं छुआ जा सकता। —आचाराङ्ग ६।१

+ + + +

जो आत्माएँ मुक्त हुई हैं, वे आत्माएँ कोई स्वच्छन्द वर्तन से मुक्त नहीं हुई हैं; परन्तु आप्त पुरुष के बोधे हुए मार्ग के प्रबल अवलम्बन से मुक्त हुई हैं। —श्रीमद् राजचन्द्र

+ + + +

कोई भी वीतराग की आज्ञा का पालन हो उस तरह प्रवर्तन करना, मुख्य मान्यता है। —श्रीमद् राजचन्द्र

१

जिन आज्ञा: राज मार्ग

(१) कई नामधारी साधु जिन आज्ञा में भी पाप बतलाते हैं; साधु वीतराग भगवान की आज्ञा रहते से खान-पान करता है। जो खान-पान भगवान की आज्ञा सहित है उसमें भी वे प्रमाद और अव्रत बतलाते हैं परन्तु ऐसा मानना वस्तुस्थिति से उल्टा है। —जि॰ आ॰ १। दो॰ १-२

(२) वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि नाना उपकरण भगवान की आज्ञा से साधु भोगता है। इसमें पाप बतलाते हैं वे विवेकशून्य हैं। —जि॰ आ॰ १। दो॰ ३

(३) 'नदी उतरने की आज्ञा साधु को गुरु भगवान ने दी है। नदी पार करना प्रत्यक्ष रूप से हिंसा है। इस तरह भगवान की आज्ञा में भी पाप ठहरता है' ऐसा उनका कहना है।

'इसी तरह और भी बहुत-सी बातों के सम्बन्ध में, भगवान अनुमति दी है, जिनमें प्रत्यक्ष जीवों की हिंसा होती है। य भी पाप होता ही है'। इस तरह अन्य दार्शनिक, भगवान द्वारा कर सकने योग्य बताए गये कार्य में भी, पाप ठहराते है अब मैं इस विषय पर विवेचन करता हूँ। —जि० आ० दो० ५

(४) जो-जो कार्य भगवान की रजा सहित हैं, उनर उपयोग (सावधानी, जागरूकता) सहित करते कदाश जी की घात भी हो जाय तो साधु को उस हिंसा का पाप न लगता। न उसके व्रतों पर कोई आंच आती है'।

—जि० आ० ११-२

१—जिन भगवान की जो-जो आज्ञा हैं वे-वे आज्ञा, सर्व प्राणी, अप आत्मा के कल्याण के लिए जिनकी कुछ इच्छा है, उन सबको, ह कल्याण की उत्पत्ति हो, और जिस तरह शुद्धिशीलता हो, तथा उस कल्या की जिस तरह रक्षा हो उस तरह (वे आज्ञाएँ) की हैं। एक आ जिनागम में कही हो कि, जो आज्ञा अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के संयो में न पाली जा सकने से आत्मा को बाधाकारी होती हो, तो वहाँ वह आज्ञ गौण कर—निषेध कर—दूसरी आज्ञा तीर्थंकर ने कही है। सर्व विरि करने वाले मुनि को सर्व विरति करते समय के प्रसंग में 'सव्वाई पाणा वायं पच्चखामि, सव्वाइ मुसावायं पच्चखामि, सव्वाइ अदत्ता दाणाइ पच्चखामि सव्वाई मेहुणाई पचखामि, सव्वाइ परिग्गहाइ पच्चखामि' इस उद्देश के वच उचारने का कहा है, अर्थात् 'प्राणातिपात से मैं निवृत होता हूँ, स '९ के मृखावाद से मैं निवृत होता हूँ, सर्व प्रकार के अदत्तादान

(५) विधिपूर्वक नदी उतरने की रजा साधु को खुद भगवान देते हैं। यदि नदी उतरने में साधु को पाप लगता हो तो नदी उतरने की रजा देनेवाले भी क्या पाप के भागी नहीं होंगे? —जि० आ० ११४

(६) केवली भगवान खुद नदी पार करते हैं और साधु को इसकी रजा देते हैं। पाप होगा तो दोनों को ही होगा।

—जि० आ० ११५

(७) साधु और केवली का समान आचार है। यदि नदी पार करने में केवली के पाप लगना मंजूर नहीं तो वह छद्मस्थ के क्यों लगेगा? —जि० आ० ११६

(११) जिस विधिपूर्वक केवली भगवान नदी उतरते हैं उस विधिपूर्वक यदि छद्मस्थ नहीं उतरता तो यह ईर्या समिति में दोष है। कर्त्तव्य में कोई दोष नहीं आता। —जि० आ० १।१०

(१२) चलने में जागरूकता की कमी अज्ञान का फल है। इसका प्रतिक्रमण करना पड़ता है। जब यह अनुपयोग बहुत अधिक होता है तो उस समय प्रायश्चित ले शुद्ध होना पड़ता है।
—जि० आ० १।११

(१३) साधु का नदी उतरना, सावद्य (पापमय) मत समझो। यदि यह कार्य सावद्य हो तो संयम ही न रहे और साधु को विराधक की पंक्ति में सुमार होना हो।
—जि० आ० १।१२

हीनत्व देख कर, चित्तस्थिति प्रथम समाधान रहने के लिए वस्त्र-पात्रादि का ग्रहण कहा है; अर्थात् आत्महित देखा तो परिग्रह रखने का कहा है। प्राणातिपात क्रिया प्रवर्त्तन कहा है, परन्तु भाव का आकार फेर है। परिग्रह बुद्धि से या प्राणातिपात बुद्धि से कुछ भी करने का कभी भी भगवान ने नहीं कहा है। पांच महाव्रत, सर्वथा निवृत्तिरूप भगवान ने जहाँ बोधा है वहाँ भी दूसरे जीव के हितार्थ कहा है; और उसमें उसके त्याग जैसा दिखाई देता ऐसा अपवाद भी आत्म हितार्थ कहा है; अर्थात् एक परिणाम होने से त्याग की हुई क्रिया ग्रहण कराई है। मैथुन त्याग में जो अपवाद नहीं है उसका हेतु ऐसा है कि रागद्वेष बिना उसका भंग हो नहीं सकता; और रागद्वेष हैं वे आत्मा को अहितकारी हैं; इस कारण से उसमें कोई अपवाद भगवान ने नहीं कहा। नदी का उतरना राग-द्वेष बिना भी हो

(१४) गये काल में अनन्त जीवों को नदी पार क
हुए केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है और नदी में ही आयुष
कर वे पाँचवी भगवती गति को प्राप्त हुए हैं। —जि० आ० ११

(१५) कई कहते हैं 'साधु को नदी उतरने जितनी हि
की छूट रहती है इससे पाप तो उसके लगता ही है पर व्रत
भंग नहीं होता'। ऐसा कहनेवाले निरे मूर्ख हैं।

—जि० आ० ११४

(१६) यदि साधु के इस हिंसा का आगार (छूट) हो
नदी पार करते वह मोक्ष नहीं जा सकता। यदि हिंसा
आगार हो और उससे पाप लगते रहें तो उसे (मुक्ति के
आवश्यक) चवदहवाँ गुणस्थान —अयोगी केवली--
आयगा ? —जि० आ० ११५

(१७) यदि कोई यह बात कहे कि नदी उतरते स
साधु को असंख्य जीवों के नाश की हिंसा लगती है और उ
लिए प्रायश्चित्त लिए बिना वह शुद्ध नहीं होता तो उसके
में अन्धकार है। —जि० आ० ११६

सकता है; पुस्तकादि का ग्रहण भी उस प्रकार हो सकता है; परन्तु
सेवन उस प्रकार नहीं हो सकता; अतः भगवान ने अनपवाद यह व्रत
है; और दूसरों में अपवाद आत्म हितार्थ कहा है। ऐसा होने से जिन
जिस तरह जीव का—संयम का—रक्षण होता तो उस प्रकार कहे
लिए हैं। —श्रीमद् राजचन्द्र

(१८) यदि नदी उतरने के लिए प्रायश्चित लिए बिना साधु निष्पाप नहीं होता तो नदी मे मरनेवाला साधु अशुद्ध ही रह जाने से मोक्ष कैसे जाता होगा ? —जि० आ० ११७

(१९) यदि साधु के नदी उतरने में दोष (पाप) हो तो जिन भगवान कैसे रजा देते ? जहां भगवान की रजा है वहां पाप नहीं है। मन में सोच कर देखो। —जि० आ० ११८

(२०) ध्यान, लेश्या, परिणाम, योग और अध्यवसाय ये प्रत्येक प्रशस्त और अप्रशस्त दो तरह के होते है। प्रशस्त में भगवान की रजा रहती है अप्रशस्त में नहीं रहती। बुरे ध्यान लेश्यादि से पाप संचय होता है। भले से पापोपार्जन नहीं होता। नदी उतरनेवाले के कौन से ध्यान आदि हैं—यह विचारो।

जि० आ० ११९-२०

(२१) छद्मस्थ और केवली नदी उतरते है उस समय आगे केवली और पीछे छद्मस्थ रहते है। छद्मस्थ, भगवान की रजा के कारण ही, नदी पार करते हैं उनको पाप किस हिसाब से लग सकता है ? —जि० आ० १२१

(२२) जिन-शासन में—चार तीर्थ में—जिन-आज्ञा सब के लिए शिरोधार्य है। जिन आज्ञा में पाप बतलाते हैं, उनकी श्रद्धा (मान्यता) गलत है। —जि० आ० १२२

(२३) दव से दग्ध समुद्र में कूद सकता है परन्तु यदि समुद्र में ही आग लग जाय तो वह किस जगह जाकर शीतलता प्राप्त करे ! किस जगह सुख को प्राप्त करे !! इसी तरह यदि जिन

भगवान की रजा में भी पाप हो तो किस की आज्ञा में ध
होगा ? किस की आज्ञा को शिरोधार्य करने में मोक्ष होगा
किस की आज्ञा में कर्मों का क्षय होगा ? —त्रि० आ० १।२३
(२४) बूंदें गिरती हों उस समय भी साधु मात्रा (पेशा
परठने को जाता है, टट्टी जाता है। इन कामों में भी भगवान
आज्ञा है। इनमें पाप कौन बतला सकता है ? —त्रि० आ० १
(२५) रात्रि में साधु लघु और बड़ी नीत (टट्टी औ
पेशाब) परठने के लिए अछाह में जाता है; स्थानक के बाह
रात्रि में सज्झाय करता है। इसी तरह काम पड़ने पर साधु रा
में अछाह में आना-जाना करता है। ऐसा करने की साधु को
भगवान की आज्ञा है। इन सब (कार्यों) में कौन पाप ब
सकता है ? —जि० आ० १।२६,२७

(२६) रात्रि में अछाह में अपकाय के (जल के) जी
पड़ते रहते हैं और उनकी घात साधु से होती रहती है परन्तु
प्राणि हिंसा का पाप साधु को नहीं लगता उसी न्याय से जिस
कि नदी उतरने में पाप नहीं लगता। —जि० आ० १।२८
(२७) नदी में बह जाती हुई साध्वी को हाथ पकड़ा
थाम सकता है। इस कार्य में भगवान की आज्ञा है इसमें कौ
पाप बता सकता है ? —जि० आ० १।२९
(२८) ईर्या समिति पूर्वक चलते हुए साधु से कदाश जी
की घात हो भी जाय तो भी उस जीव के मरने का अंश म
भी पाप उस साधु को नहीं लगता। —जि० आ० १।३०

(२९) ईर्या समिति बिना चलते हुए साधु से कदाश कोई जीव की घात न भी हो तो भी साधु को छः काय के जीवों की हिंसा का दोष लगता है और कर्मों का बंध होता है।

—जि० आ० १।३१

(३०) जहाँ जीवों की घात हुई वहाँ पाप नहीं लगा और जहाँ जीवों की घात नहीं हुई वहाँ पाप लगा—यह आश्चर्य की बात है, परन्तु जिनाज्ञा को सुनो—उस पर दृष्टि दो। जिन आज्ञा में कभी पाप मत बतलाओ। —जि० आ० १।३२

(३१) अब कोई तर्क करे कि गृहस्थ के चलने-फिरने में भगवान की रजा नहीं है तो फिर चले-फिरे बिना साधु को बहराना कैसे होगा? कभी-कभी ऐसा होता है कि बैठे हुए को उठ कर और उभे हुए को बैठ कर बहराना पड़ता है। परन्तु श्रावक के बैठने-उठने में भगवान की आज्ञा नहीं है तब बारहवाँ व्रत किस तरह कार्य रूप में परिणत किया जाय? अब यदि भगवान की आज्ञा के बाहर के कार्यों के करने में पाप लगता है तब तो हलने-चलने में भी पाप ही हुआ पर साधुओं को बहराने में प्रत्यक्ष धर्म है। कोई कहता है कि गृहस्थ के चलने में भगवान की आज्ञा नहीं परन्तु चल कर बहराने में प्रकट रूप से धर्म है। इस तरह बिना भगवान की आज्ञा के चलने में भी पाप नहीं हुआ। इस तरह कुहेतु खड़े कर अज्ञानी आज्ञा बाहर भी धर्म ठहराते हैं। अब जिन आज्ञा में धर्म श्रद्धने के जवाब सुनो। —जि० आ० १।३३-३७

(३२) मन-वचन-काया ये तीनों योग सावद्य निरवद्य होते हैं। निरवद्य योगों में प्रवर्तन करने की भगवान की आज्ञा है। —जि० आ० १।३८

(३३) योग मन-वचन-काय के व्यापार को कहते हैं। यह व्यापार शुभ या अशुभ दो तरह का होता है। भले योगों को प्रवर्तने की जिन आज्ञा है, बुरे जोग भगवान की आज्ञा के बाहर हैं। —जि० आ० १।३९

(३४) जिन भगवान मन-वचन-काया के योग भले प्रवर्तने को गृहस्थ को कहते हैं। अब काय योग शुभ रूप से किस प्रकार प्रवर्ताया जाता है—यह बतलाता हूँ।

—जि० आ० १।४०

(३५) निरवद्य कर्त्तव्य करने की भगवान आज्ञा करते हैं। यह निरवद्य कर्त्तव्य ही शुभ योग है। तू निरवद्य कर्त्तव्य को आगे कर, उसे करने की भगवान की आज्ञा है। —जि० आ० १।४१

(३६) साधुओं को हाथों से आहारादि बहराया जाता है प्रसंगवश बहराते समय उठना-बैठना भी होता है। यह बहराने का कर्त्तव्य निरवद्य है। उसमें श्री जिन भगवान की आज्ञा है। —जि० आ० १।४२

(३७) भगवान गृहस्थ को निरवद्य कर्त्तव्य करने की आज्ञा देते हैं। कर्त्तव्य काया द्वारा ही वह करेगा परन्तु भगवान ऐसा नहीं कहेंगे कि तू शरीर को चला (उससे क्रिया कर)।

—जि० आ० १।४३

(३८) निरवद्य कर्त्तव्य की आज्ञा देने में कोई पाप नहीं लगता परन्तु हलने-चलने की आज्ञा देने से गृहस्थ से संभोग माना जायगा। —जि॰ आ॰ १।४४

(३९) बैठो, सोवो, खड़े रहो, या जावो—साधु गृहस्थ से ऐसा नहीं कह सकता। इसके लिए देखो दशवैकालिक सूत्र के सातवें अध्ययन की ४७ वीं गाथा। —जि॰ आ॰ १।४५

(४०) खड़े होकर करने के कर्त्तव्य को, बैठ कर करने के कर्त्तव्य को करने की आज्ञा जिन भगवान करते हैं परन्तु बैठने या खड़े होने के लिए गृहस्थ को नहीं कहते। इस अन्तर पर विचार करो। —जि॰ आ॰ १।४६

(४१) निरवद्य कर्त्तव्य की आज्ञा देने से निरवद्य चलना उसमें आ जाता है, परन्तु कर्त्तव्य को छोड़ केवल मात्र चलने फिरने की आज्ञा देने से गृहस्थ से संभोग होता है।—जि॰ आ॰ १।४७

(४२) गृहस्थ के द्वार पर कपड़ादि पड़े हों और इस कारण साधु भीतर नहीं जा सकता हो तो उस समय यदि गृहस्थ वस्त्र को दूर कर साधु को आने-जाने का पथ दे तो यह कर्त्तव्य निरवद्य है—अच्छा है। परन्तु वही यदि कपड़े को दूर करना केवल कपड़े को उठाने की दृष्टि से हो तो सावद्य कर्त्तव्य है।

—जि॰ आ॰ १।४८-४९

(४३) यही कारण है कि साधु गृहस्थ को मार्ग देने के लिए कहता है पर ऐसा नहीं कहता कि वस्त्र समेट कर इकट्ठा कर लो। —जि॰ आ॰ १।५०

(४४) श्रावक की परस्पर व्यावच में और क्षेम कुशल पूछने में जरा भी भगवान की आज्ञा मालूम नहीं देती। जो तत्त्व को जानते नहीं वे इसमें धर्म बतलाते हैं। —जि० आ० ११५३

(४५) श्रावक की व्यावच करनेवाला शरीर को साज देता है। वह छः काय के लिए घातक शस्त्र को तीक्ष्ण करता है इसलिए ऐसी व्यावच करने की आज्ञा जिन भगवान नहीं करते। —जि० आ० ११५४

(४६) जो गृहस्थ की व्यावच करता है उस साधु के अट्ठाइसवां अणाचार लगता है; क्षेम कुशल पूछने पर सोलहवां अणाचार लगता है। इसमें भी धर्म नहीं है। —जि० आ० ११५५

(४७) शरीर आदिक को श्रावक पूंजता है, या मात्रादिक को परठता है इन कार्यों में जिन आज्ञा नहीं है। ये कार्य शरीर के हैं, इनमें धर्म नहीं है, धर्म होता तो जिन भगवान अवश्य आज्ञा देते। —जि० आ० ११५६-५७

२

कहाँ जिन-आज्ञा और कहाँ नहीं ?

(क)

(१) जिन शासन में आज्ञा को बहुत ऊँचा आसन दिया हुआ है। जो जिन आज्ञा को नहीं पहचानते वे साव मूर्ख हैं।

—जि० आ० २। दो० १

(२) संसार के कार्य मात्र दो तरह के हैं—एक सावद्य और दूसरे निरवद्य; निरवद्य में जिन आज्ञा रहती है। निरवद्य कृत्यों से मोक्ष प्राप्त होता है। —जि० आ० २। दो० २

(३) सावद्य कृत्यों में जिन आज्ञा नहीं है; सावद्य करणी से कर्मों का बंध होता है। इसमें जरा भी धर्म मत जानो।

—जि० आ० २। दो० ३

(४) कहाँ-कहाँ जिन आज्ञा है और कहाँ-कहाँ नहीं है—अब यह बतलाता हूँ—बुद्धिमान विचार कर निर्णय करें।

—जि० आ० २। दो० ४

(५) यदि कोई नौकारसी का भी पच्चखाण करता है तो उसको आप आज्ञा देते हैं परन्तु कोई लाखों ही संसार में दान दे तो आप पूछने पर चुपचाप रहते हैं। —जि० आ० २।१

(६) आपकी आज्ञानुमोदित नौकारसी करने से आठ कर्मों का क्षय होता है; यदि कोई संसार में लाखों ही दान दे तो भी यह आपका बतलाया धर्म नहीं है। —जि० आ० २।२

(७) एक अंतर मुहूर्त के लिए भी यदि कोई एक चने का त्याग करे तो जिनराज उसमें आज्ञा देते हैं परन्तु यदि कोई लाखों ही प्राणियों की धन देकर रक्षा करने को तैयार हो तो भी आप मौन धारण कर लेते हैं। —जि० आ० २।३

(८) अंतर मुहूर्त के लिए भी एक भूगड जितने का भी त्याग करना आपका सिखाया हुआ धर्म है। इससे जीव के कर्म कटते हैं और उत्कृष्ट परम सुख की प्राप्ति होती है।

—जि० आ० २।४

(९) कोई जीवों को लाखों रुपये देकर छुड़ाने पर उद्यत हो तो भी वह आपका बतलाया हुआ धर्म नहीं है; यह केवल लौकिक उपकार है, इससे कर्म नहीं कटते।

—जि० आ० २।५

(१०) कोई साधु-सन्तों को एक तिनका मात्र भी बहरावे तो उसको आप स्वमुख से आज्ञा देते हैं परन्तु यदि कोई करोड़ों ही श्रावक जिमाने को तैय्यार हो तो भी उसके लिए अंश मात्र भी आज्ञा नहीं देते। —जि० आ० २।६

(११) साधु को एक तिनके मात्र बहराने में भी बारहवाँ व्रत फलीभूत होता है इसलिये कर्म का क्षय होता जान कर आपने इसकी आज्ञा दी है, परन्तु कोई करोड़ ही श्रावकों को क्यों न जिमावे आप इस कार्य को सावद्य मानते हैं। यह जिमाना छः प्रकार के जीवों के लिए शस्त्र तैयार करना है और एकान्त पाप है। —जि० आ० २।७-८

(१२) कोई श्रावकों की व्यावच करे वहाँ भी आप मौन रहते हैं। इस व्यावच से छः प्रकार के जीवों के लिए घातक शस्त्र तीखा होता है। इस कृत्य को आपने बुरा समझा है।
—जि० आ० २।९

(१३) कोई सूत्र सिद्धान्त को खुले मुँह पढ़े या करोड़ों ही नवकार खुले मुँह गिने तो उसमें आपकी आज्ञा नहीं है और न उसमें जरा भी धर्म है। —जि० आ० २।१०

(१४) जो खुले मुँह से नवकार गुणता है वह असंख्यात जीवों की घात करता है इसमें धर्म समझना निरा भोलापन है।
—जि० आ० २।११

(१५) यत्नपूर्वक एक भी नवकार के गिनने से करोड़ों भवों के कर्मों का नाश होता है। इसमें आपकी आज्ञा है और कर्म क्षय रूप (निर्जरा) धर्म है। —जि० आ० २।१२

(१६) कोई साधु नाम धरा कर भी सावद्य दान की प्रशंसा करता है वह भगवान के वेष को लजाता है, उसके घट में घोर अज्ञान है। —जि० आ० २।१३

(१७) जिसने आपकी आज्ञा और मौन को पहचान लिया उसने आपको भी पहचान लिया। उसके नीच योनि भी टल गयी। —जि० आ० २।३९

(१८) जिसने आपकी आज्ञा और मौन को नहीं पहचाना उसने आपको भी नहीं पहचाना। उसके नीच योनि का बंध होगा। —जि० आ० २।४०

(१९) जो आज्ञा बाहर धर्म बतलाते हैं और जो आज्ञा में पाप बतलाते हैं वे दोनों विचारे झूठा विलाप कर डूब रहे हैं। —जि० आ० २।४१

(२०) आपका धर्म आपकी आज्ञा में है उसके बाहर नहीं। जो जिन धर्म को आपकी आज्ञा के बाहर बतलाते हैं वे निरे मूर्ख हैं। —जि० आ० २।४२

(२१) आप अवसर देखकर बोले, अवसर देखकर मौन धारण किया। जिस कार्य में आपकी आज्ञा (सम्मति) नहीं है वह कार्य बिलकुल पापमय है। —जि० आ० २।४३

(२२) मन, वाणी और शरीर द्वारा त्रिविध हिंसा न करने को भगवान ने दया कहा है और सुपात्र को देना दान बतलाया है। ऐसे दान और दया से सहज ही मुक्ति प्राप्त होती है। —जि० आ० २।४९

(२३) दया और दान ये दोनों मोक्ष के मार्ग हैं और जिन आज्ञा सहित हैं इनकी जिस किसी ने भले प्रकार से आराधना की है उन्होंने मनुष्य जीवन को जीता है। —जि० आ० २।५०

(ख)

(१) कई लोग जिन आज्ञा के बाहर भी धर्म बतलाते हैं और कई आज्ञांकित कार्यों में भी पाप। पर ऐसा कहना शास्त्र सम्मत नहीं है। लोग रूढ़ि में पड़े हूब रहे हैं।

—जि० आ० ३। दो० २-३; ३।१

(२) कई कहते हैं कि सच्चा भेद यह है कि धर्म के कार्यों में आज्ञा देना, पाप के कार्यों का निषेध करना और जिन कार्यों में पाप धर्म दोनों मिश्रित हों वहाँ आज्ञा या निषेध न कर मौन रखना। —जि० आ० ३। दो० ४

(३) कई धर्म और पाप मिश्रित होना स्वीकार नहीं करते, पर हिंसा के कार्यों में धर्म बतलाते हैं ऐसी थापना करनेवाले कर्मों से भारी होते हैं। —जि० आ० ३। दो० ६

(४) भगवान का धर्म भगवान की आज्ञा में है, उसके बाहर नहीं। भगवान के धर्म से पुराने कर्म क्षय होते हैं नए बंधते नहीं। इसका खुलासा आगे है। —जि० आ० ३। दो० १,७

(५) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये मोक्ष के चार मार्ग हैं। इन चारों में प्रभु की आज्ञा है। इनके अतिरिक्त और कहीं धर्म नहीं है। —जि० आ० ३।२

(६) इन चार में से किसी की भी आज्ञा मांगने से भगवान देते हैं। इनके बाहर के कार्यों के लिए आज्ञा मंगाने पर प्रभु मौन धारण कर लेते हैं। भगवान की सम्मति विना का कार्य विलकुल निकृष्ट होता है। —जि० आ० ३।३-४

(७) बीस प्रकार से नए कर्मों का संचार रुकता है और बारह प्रकार से पुराने कर्म झड़ कर दूर होते हैं। नए कर्मों का संचय रोकना और पुराने कर्मों को झाड़ कर दूर करना—यही भगवान का बतलाया धर्म है। इन उपायों को अंगीकार करने में भगवान की आज्ञा है। —जि० आ० ३।५

(८) जिन कर्त्तव्यों से नए कर्म आने रुकते हैं और जिन कर्त्तव्यों से पुराने कर्म दूर होते हैं उन कर्त्तव्यों के सिवा और कहीं भगवान की आज्ञा नहीं है। उपरोक्त दो प्रकार के कर्त्तव्यों के सिवा सब कर्त्तव्य सावद्य हैं। —जि० आ० ३।६

(९) अरिहन्त भगवान को देव कहा गया है, निर्ग्रंथ साधु को गुरु कहा है और केवली भगवान द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को धर्म। —जि० आ० ३।७

(१०) केवली भगवान का कहा हुआ धर्म ही मंगल है, यही उत्तम है और इसी धर्म की शरण लेनी चाहिए। जिन धर्म जिन आज्ञा से प्रमाणित है। —जि० आ० ३।९

(११) सूत्रों में जगह-जगह केवली भगवान द्वारा कहा हुआ धर्म बतलाया गया है। जहाँ भगवान ने मौन धारण किया वहाँ धर्म नहीं है। मौन धारण तो वहाँ किया है जहाँ दोनों ओर से कर्म बन्धन की संभावना है। —जि० आ० ३।१०

(१२) धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान की भगवान ने बार बार [illegible] है, आर्त और रौद्र ये दोनों ध्यान हेय हैं इनको ध्याना [illegible] के बाहर है। —जि० आ० ३।१२

(१३) चार बातें मंगलरूप, चार बातें उत्तम और चार शरण रूप कही हैं। ये सब प्रभु आज्ञा-सम्मत हैं। ऐसी कोई बात नहीं जो आज्ञा के उपरांत भी ठीक हो। —जि० आ० ३।१४

(१४) शुभ परिणाम, शुभ अध्यवसाय, आज्ञा सम्मत हैं, बुरे परिणाम और बुरे अध्यवसाय आज्ञा सम्मत नहीं हैं। पहिले अध्यवसाय आदि से कर्मों का निपात होता है, दूसरों से कर्मों का ग्रहण। जि० आ० ३।१५-१७

(१५) तेजु, पद्म और शुक्ल ये तीनों शुभ लेश्याएँ हैं। बाकी तीन—कृष्ण, नील और कापोत अशुभ लेश्याएँ हैं। पहली प्रभु आज्ञा-सम्मत हैं और निर्जरा की हेतु हैं दूसरी प्रभु आज्ञा सम्मत नहीं हैं और कर्म—पाप कर्म ग्रहण की हेतु हैं। —जि० आ० ३।१४

(१६) सर्व मूल गुण और सर्व उत्तर गुण तथा देश मूल गुण और देश उतर गुण इन सब गुणों में प्रभु की आज्ञा है। ऐसा गुण नहीं जो आज्ञा उपरांत भी हो। —जि० आ० ३।१८

(१७) अर्थ दो तरह के हैं- एक परमार्थ दूसरा अनर्थ। परमार्थ में भगवान की रजा है, अनर्थ में आज्ञा नहीं है।-जि०आ० ३।१९

(१८) सर्व व्रत और देश व्रत जो क्रमशः साधु और श्रावक के लिए हैं—इनमें जिन आज्ञा है। व्रतों के उपरांत अधर्म है—पाप है। —जि० आ० ३।२०

(१९) जो प्रभु आज्ञा को लोप कर स्वच्छन्दता से चलते हैं वे ज्ञानादिक धन से रहित होते हैं[1]। —जि० आ० ३।२१

1—देखो—आचाराङ्ग, २।६।

(२०) भगवान का कथन है कि साधु सदा इस बात का ध्यान करे कि प्रभु द्वारा आज्ञा किया हुआ धर्म ही मेरा है। अन्य धर्म मेरा नहीं[१]। —जि० आ० ३।२४

(२१) संयम और तपमय परिणाम आज्ञा सहित हैं। आज्ञा रहित धर्म अच्छा नहीं है जिन भगवान ने इसे पराल समान कहा है। —जि० आ० ३।२५

(२२) आश्रव और निर्जरा के कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न बत लाए हैं। परन्तु प्रभु आज्ञा को समझनेवाला भिन्न २ जानेगा।

—जि० आ० ३।२६

(२३) आचाराङ्ग सूत्र के पांचवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में कहा है कि तीर्थंकरों ने जो धर्म चलाया है वही मोक्ष का मार्ग है। दूसरा मोक्ष का मार्ग नहीं है। —जि० आ० ३।२८

(२४) गुरु शिष्य को संबोधन कर कहते हैं कि तुम्हें दो बातें कभी न हो—(१) आज्ञा बाहर के कृत्यों में उद्यम (२) आज्ञा सम्मत कृत्यों के करने में आलस। —जि० आ० ३।२९

(२५) आचाराङ्ग सूत्र के पांचवें अध्ययन में कहा है— कुमार्ग में आचरण करना और सुमार्ग में प्रवृति करने में आलस करना ये दोनों दुर्गति के कारण हैं। —जि० आ० ३।३०

(२६) जिन मार्ग को नहीं जाननेवाले को जिन उपदेश का लाभ नहीं मिलता[२]। —जि० आ० ३।३१

१—देखो— आचाराङ्ग, ६।१।

२—देखो—आचाराङ्ग, ४।३।

(२७) जो असंयम छोड़ संयम, कुशील छोड़ ब्रह्मचर्य, अकल्प्य आचार छोड़ कल्प आचार, अज्ञान छोड़ ज्ञान, पाप क्रिया छोड़ भली क्रिया, मिथ्यात्व छोड़ सम्यक्त, अबोध छोड़ बोध, और उन्मार्ग को छोड़ सन्मार्ग को आदर देता है—उसकी आत्मा शुद्ध होती है। —जि० आ० ३।३ -४१

(२८) जिन उपदेश से उपरोक्त आठ बोलों से कर्मों का बन्ध जान कर उन्हें छोड़ता है और जिन आज्ञा से उनके प्रति पक्षी आठ बोलों को अंगीकार करता है वह परम पद निर्वाण को प्राप्त करता है। —जि० आ० ३।४२

(ग)

(१) साधु सामायिक व्रत अङ्गीकार करते समय सावद्य कृत्यों का त्याग करता है। इन त्यागे हुए सावद्य कृत्यों में से कोई कृत्य श्रावक करता है तो उसमें भी जिन आज्ञा मत समझ।

—जि० आ० ४।१

(२) श्रावक सामायिक या पौषध करते समय सावद्य कार्मों का पच्चखाण करता है। इन्हीं सावद्य कार्यों को सामायिक के बाहर भी यदि श्रावक करता है तो उसमें भी जिन धर्म नहीं है। —जि० आ० ४।२

(३) जिन धर्म की जिन भगवान आज्ञा करते हैं और उसकी शिक्षा देते हैं परन्तु भगवान की आण के उपरांत के कार्यों

का शिक्षक कौन है और कौन उनको आज्ञा करता है?
—जि० आ० ४।८

(४) कई आज्ञा बाहर पाप और पुण्य मिश्रित बतलाते हैं और कई एक मात्र धर्म ही। उनसे कहना चाहिए कि यह धर्म किसने बतलाया है उसका नाम बतलाओ। —जि० आ० ४।९

(५) इस धर्म और मिश्र के सिद्धान्त का प्रचारक कौन है और कौन उसकी आज्ञा देता है? देव, गुरु तो मौन धारण कर अलग हो गये हैं। ऐसे विचित्र सिद्धान्त की उत्पत्ति का कर्ता कौन है? — जि० आ० ४।६

(६) कोई कहे कि मेरी माता बाँझ है और मैं पुत्र हूँ उसी तरह मूर्ख कहते हैं कि जिन आज्ञा रहित कृत्य करने में भी धर्म है। —जि० आ० ४।१०

(७) जिस तरह बिना बापके बेटा नहीं हो सकता, उसी तरह जिन आज्ञा बिना धर्म नहीं होगा; जिन आज्ञा में ही जिन धर्म होगा। आज्ञा बिना धर्म नहीं होगा। —जि० आ० ४।११

(८) मा बिना बेटे का जन्म नहीं हो सकता। जो बेटे को जन्म देगी वह बाँझ नहीं हो सकती। इसी तरह जिन आज्ञा बिना धर्म नहीं हो सकता और जहाँ जिन आज्ञा होगी वहाँ पाप नहीं हो सकता। —जि० आ० ४।१२

(९) घुघु पक्षी और चोर इन दोनों को अन्धेरी रात अच्छी लगती है उसी तरह कर्मों से भारी बने जीवों को जिन आज्ञा के बाहर का धर्म अच्छा लगता है। —जि० आ० ४।१३

(१०) काग, निमोली खाने में सुख मानता है और भण्डसूर विष्टा खाने में आनन्द प्राप्त करता है। काग और भण्डसूर की तरह जो मनुष्य होते हैं वे आज्ञा बाहर की करणी में रीझते हैं।

—जि० आ० ४।१४

(११) जो गुरु आदि की आज्ञा नहीं मानता वह स्वछंद और अविनयशील कहलाता है, इसी तरह कई जिन आज्ञा बिना कार्य करते हैं वे भी जिन धर्म से विपरीत हैं। —जि० आ० ४।१६

(१२) जिस तरह भ्रष्ट हुए मनुष्य को न्यात के बाहर कर दिया जाता है और उसे न्यात के बाहर भटकना पड़ता है उसी तरह भगवान की आज्ञा के बाहर भ्रष्ट धर्म है। उसमें कभी अच्छाई नहीं हो सकती। —जि० आ० ४।१८

(१३) जो न्यात बाहर होता है, वह न्यात सामिल नहीं होता, उसको एक पांत में नहीं बैठाया जाता, उसी तरह जिन आज्ञा बिना धर्म अयोग होता है ऐसे धर्म के आचरण से मन की इच्छा पूर्ति नहीं होती। —जि० आ० ४।१९

(१४) यदि जिन आज्ञा रहित करणी में भी धर्म होता है तो फिर जिन आज्ञा से मतलब ही क्या है ? फिर मनमानी करणी ही आचारणीय है तब तो सभी कृयों में धर्म हुआ !

—जि० आ० ४।२०

(१५) जिन आज्ञा असम्मत करणी में यदि पाप नहीं होता और धर्म होता है तो फिर यह बतलाओ कि किस करणी से पाप होता है ? —जि० आ० ४।२१

(१६) यदि कोई वेश्या के पुत्र को पूछे कि तुम्हारी माता और तुम्हारा पिता कौन है? तब वह किस बाप का नाम बतला सकता है? उसी प्रकार इन 'मिश्र' मान्यता वालों की बात है। —जि० आ० ४।७

(१७) वेश्या के उदरजाता का जो वैसे ही स्वभाव वाला होगा वही इच्छा कर बाप बनेगा, वैसे ही पाखण्डी ही जिन आज्ञा के बाहर धर्म और मिश्री को ठहराते हैं। —जि० आ० ४।८

(१८) ये तो मूर्खों को रिझाने के लिए जिन आज्ञा के बाहर के कार्यों में धर्म ठहराते हैं। —जि० आ० ४।२३

(१९) जो आज्ञा बाहर धर्म कहते हैं वे खुद ही आज्ञा बाहर हैं। ऐसी श्रद्धा से वे डूब रहे हैं और भव-भव में खराब होंगे। —जि० आ० ४।२४

(२०) ऐसी मान्यता वाले वे जैन धर्म से पतित हैं, उनकी हिये की आँखें फूट चुकी हैं, वे अंधेरे में सूरज उगा कहते हैं।

—जि० आ० ४।२५

(२१) जो आज्ञा बाहर के कार्य करते हैं वे दुर्गति के नेता हैं। जो जिन आज्ञा के कार्य करते हैं वे निर्वाण को पाते हैं।

—जि० आ० ४।२६

(२२) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चारों आज्ञा-सम्मत हैं। इन चार में जिन भगवान ने धर्म बतलाया है। इनके सिवा और कोई ऐसी बात बतलाओ जिसमें धर्म होता हो? —जि० आ० ४।२२

४

सम्कित

ऐसी संज्ञा मत रखो कि लोक और अलोक नहीं है, विश्वास रखो कि लोक और अलोक है; मत विश्वास करो कि जीव और अजीव नहीं है पर विश्वास करो कि जीव और अजीव है; मत विश्वास करो कि धर्म और अधर्म नहीं है पर विश्वास करो कि धर्म और अधर्म है; मत विश्वास करो कि पुण्य और पाप नहीं है पर विश्वास रक्खो कि पुण्य और पाप है; मत विश्वास करो कि बंध और मोक्ष नहीं है पर विश्वास करो कि बंध और मोक्ष है; मत विश्वास करो कि आस्रव और संवर नहीं है पर विश्वास करो कि आस्रव और संवर है; मत विश्वास करो कि कर्म का भोग और निर्जरा नहीं है पर विश्वास करो कि कर्म का फल और निर्जरा है; मत विश्वास करो कि क्रिया और अक्रिया नहीं है पर विश्वास करो कि क्रिया और अक्रिया है; मत विश्वास करो कि क्रोध और मान नहीं है पर विश्वास करो कि क्रोध और मान है; मत विश्वास करो कि माया और लोभ नहीं है पर विश्वास करो कि माया और लोभ है; मत विश्वास करो कि राग और द्वेष नहीं है पर विश्वास करो कि राग और द्वेष है; मत विश्वास करो कि चार गतिरूप संसार नहीं है पर विश्वास करो कि चार गतिरूप संसार है; मत विश्वास करो कि मोक्ष और अमोक्ष नहीं है पर विश्वास करो कि मोक्ष और अमोक्ष है; मत विश्वास करो कि मोक्षगतों का स्थान नहीं है पर विश्वास करो कि मोक्षगतों का स्थान है; मत विश्वास करो कि साधु और असाधु नहीं है पर विश्वास करो कि साधु और असाधु है; और मत विश्वास करो कि कल्याण और पाप नहीं है पर विश्वास करो कि कल्याण और पाप है।

सूयगडांग सूत्र श्रु० २, अ० ५।१२-२८

१

समकित के अङ्ग उपाङ्ग

समकित की महिमा

(१) दृढ़ समकित धारण करनेवाले थोड़े होते हैं और दृढ़ समकित बिना मोक्ष दूर ही रहता है। हे भव्य जीवो! तुम सुनो! समकित विरले शूरों को ही मिलती है।

—द० स०,[1] १

(२) 'समकित-समकित' सब कोई पिल्ला रहे हैं परन्तु उसका वास्तविक मर्म कोई नहीं जानता (कम जानते हैं)। वे घट विरले हैं जिनमें समकित प्रगट होता है। —द० स०, २

१—अर्थात्—'दृढ़ समकित की ढाल' गा० १। इस ढाल के लिए देखो 'श्रावक धर्म विचार' नामक पुस्तक पृ० १०-१५

(३) जिस घट में समकित-रूपी तेजवान सूर्य उगता है उस घट में प्रकाश हो जाता है और अन्धकार दूर चला जाता है। —द० स०, ३

(४) जिस तरह सर-सर कमल नहीं होते, वन-वन अगर नहीं होती, घर-घर में धन नहीं होता, जन-जन पण्डित नहीं होता, उसी प्रकार सब जीव समकित नहीं पाते। —द० स०, ३

(५) प्रत्येक पर्वत पर हाथी नहीं होता, पोल-पोल में प्रासाद नहीं होता, न प्रत्येक कुसुम में सुवास होती है और न फल-फल में मीठा स्वाद, उसी प्रकार समकित हर घट में नहीं होता।

—द० स०, ४

(६) सब खानों में हीरा नहीं होता, सब बागों में चन्दन नहीं होता, न जहां-तहां रत्न राशि होती है और न सब नाग मणिधर ही होते हैं, वैसे ही सब प्राणी समकित नहीं पाते।

—द० स०,६

(७) सब पुरुष शूर नहीं होते, न सब ब्रह्मचारी होते हैं। नारी भी सब सुलक्षणी नहीं होती, पुरुष भी विरले ही गुण भण्डार होते हैं, उसी प्रकार सब प्राणी समकिती नहीं होते।

—द० स०, ७

(८) सब पर्वतों में सोना नहीं होता, कस्तूरी भी ठाम-ठाम नहीं मिलती, सब सीपों में मोती नहीं होता और न गांव-गांव में केशर होती है, उसी प्रकार समकित सब प्राणियों को प्राप्त नहीं होता। —द० स०, ८

(९) लब्धि सब को उत्पन्न नहीं होती, न सब मुक्ति जाते हैं, सब सिंह केशरी नहीं होते, साधु जहां-तहां समाधि नहीं रमाते और न तीर्थंकर चक्रवर्ती की पदवी सब को मिलती है, उसी प्रकार समकित सब प्राणी नहीं पाए हुए होते हैं।

—इ० स० ९।१०

समकित क्या और मिथ्यात्व क्या ?

(१०) नव पदार्थों में से जो एक को भी उलटा (विपरीत) श्रद्धता है वह मूल में मिथ्यात्वी है। अनेक इस मिथ्यात्व के भ्रम में भूले हैं। —इ० स० ११

(११) दस मिथ्यात्व में से कदाश किसी के एक भी बाकी रह जाता है तो उसके पहला गुणस्थान कहा जाता है—विवेक पूर्वक इसे समझो। —इ० स० १२

(१२) जो नव तत्त्व को समझे बिना साधु का वेष धारण कर लेता है उसे आचार की बात समझ नहीं पड़ती और वह कर्मों से विशेष भारी होता है। —इ० स० १३

(१४) भोले लोग पकड़ी हुई छोड़ते और झूठी पक्षपात करते रहते हैं। हुए वे अधिक-अधिक डूबते जाते हैं।

(१५) मोक्ष के मार्ग हैं। गरज नहीं

(१६) नव तत्त्वों को शुओ श्रद्धने से दसों ही मिथ्या
छुट जाते हैं—और इस प्रकार समकित आता है। सूत्र की
बात मानो। —ह० स० १६

(१७) जो देव, गुरु और धर्म को मिश्र नहीं मान
परन्तु कर्ममल रहित अरिहन्तों को देव, परिग्रह रहित निर्ग्र
को निर्मल गुरु और हिंसा रहित अहिंसामय धर्म को निर्म
धर्म मानता है उसके हृदय का भ्रम मिट चुका होता है।

—ह० स० १७

समकित और धर्म का सम्बन्ध

(१८) समकित आने से साधु-धर्म और श्रावक-धर्म
भावना उत्पन्न होती है जिससे आठों ही कर्म टूटते हैं औ
प्राणी शीघ्र ही शिव रमणी को वरता है। —ह० स० १८

(१९) समकित आए बिना अज्ञान में शुद्ध आचार क
पालन किया वे नव ग्रैवेयक तक ही ऊँचे गये परन्तु उनक
वास्तविक गरज नहीं सरी अर्थात् उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ।

—ह० स० १९

समकित की दृढ़ता का उपाय

(२०) जो पाखण्डियों की संगत करता है वह जिन
भगवान की आज्ञा का लोप करता है। शङ्का पड़ उसकी समकित
नन्दन मणियारे की तरह चली जाती है। —ह० स० २०

(२१) कामदेव और अरणक प्रधान दसों ही श्रावक
प्रशंसा योग्य हैं। वे निशंक दृढ़ रहे और देव के डिगाने पर भी

नहीं डिगे। उन्हीं की तरह जिनके हाड़ और हाड़ की मज्जाएं सारसप जिन वचनों से रंग गई हैं—जिन्हें अरिहन्त वचन रुचे हैं और जिन्होंने उन्हें अंगीकार किया है उन मनुष्यों का जन्म लेना धन्य है। —द० स० २१,२२

(२२) ज्ञान, दर्शन-चारित्र और तप—इनको छोड़ मैं तो और कोई भी धर्म नहीं जानता। हे नरनारियो! यह सब सुन कर मन में कुछ विचार करना। —द० स० २३

२

स्वरूप विवेचन

(१) हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! तू सच्चे दे[illegible] का आचार नहीं जानता, न तुम्हें वास्तविक गुरु की कोई खब[illegible] है, धर्म का तू रहस्य नहीं जानता और केवल अभिमान [illegible] डूबा फिरता है। —प्रा० स०[1] १

(२) हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! तू नवतत्त्व [illegible] भेद नहीं जानता केवल झूठी लपराई करता है, तू धर्म का धोरी [illegible] हो बैठा है—यह तुम्हारा कितना भोलापन दिखाई देता है !!

—प्रा० स० २

१—अर्थात् 'प्राणी समकित किण विध आइ रे' नामक ढाल गा० १[illegible] इस ढाल के लिए देखो 'श्रद्धा आचार की चोपई' पृ० १४७-९

(३) हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई। तू न जीव को जानता है और न अजीव को, तुझे पुण्य की खबर नहीं है और न पाप की प्रकृतियों को तू समझता है। तूने तो केवल बहुत झगड़े किए हैं!! —प्रा० स० ३

(४) हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई। तुम्हारे कर्म आने के नाले (आस्रव) खुले दिखाई देते हैं। तुममें संवर—समता नहीं है। तूने निर्जरा का निर्णय नहीं किया। तुम्हारी चतुराई कहाँ चली गई!! —प्रा० स० ४

(५) हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई। तुझे बंध मोक्ष की कोई खबर नहीं है फिर भी तू समदृष्टि नाम धराता है। रे भोले! तुझे कुगुरुओं ने भरमा दिया है!

—प्रा० स० ५

(६) हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई। तू कुगुरुओं के पास जाकर हाथ जोड़ कर समकित लेता है परन्तु तुम्हारा नवतत्त्वों आदि सम्बन्धी अज्ञान तो मिटा ही नहीं! तुम्हारे प्रत्याख्यान मिथ्या हैं। —प्रा० स० ६

(७) हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू सांग धारियों को साधु मानता है और उनके पैरों पर गिर-गिर कर तिक्खुत्ते से वंदना करता है और मन में अत्यन्त हर्षित होता है! —प्रा० स० ७

(८) हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! सावद्य करणी से पाप लगता है यह तुम्हें नहीं मालूम है और न यह बात

तुम्हारे समझ में आई है कि निरवद्य करणी में धर्म और पुण्य है।
—प्रा० स० ८

(९) हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! तू तो केवल पोथे-पाने निकाल कर बैठा हुआ भोलों को भरमा रहा है और फूड़-फाड़ कर उन्हें गर्त में फंसा रहा है। यह तो केवल तूने एक भराई मांड रखी है। —प्रा० स० ९

(१०) तू सब में बड़ा—आगेवान माना जाता है और इसलिए तू मन में फूले नहीं समाता ! कुगुरुओं ने तुम्हारे डंक लगा दिया, अब न्याय मार्ग किस तरह तुम्हारे हाथ आ सकता है ? हे प्राणी ! फिर तुम्हें समकित कैसे आई। —प्रा० स० १०

(११) हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! पुण्य, धर्म का तू ने कभी निचोड़ नहीं किया ! तुम्हारी अकल उपरा गई है ! यदि कोई तुम्हारी जानकारी की बात पूछता है तो उल्टा उससे तू लड़ पड़ता है !! —प्रा० स० ११

(१२) हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! तू ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, नहीं जाना ! जिस गुरु जैसी दूसरी वस्तु नहीं उसका कोई पता नहीं ! तू ने मनुष्य भव पाया फिर भी चार निक्षेपों का निर्णय नहीं किया ! —प्रा० स० १२

(१३) हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! करण योग के भांगों की तुझे धारणा नहीं है और न तुम्हें व्रतों की जानकारी है। तू अव्रत में धर्म की श्रद्धा—प्ररूपणा करता जाता है ! इस प्रकार तू ने नर्क की साई दे दी है !! —प्रा० स० १३

(१४) हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! तू थोथी बड़ाई करता है। न्याय बात तुम्हारे हाथ कैसे आ सकती है ! तू खोटे (झूठे) चोज लगा कर आज्ञा बाहर धर्म बतला रहा है !

—प्रा० स० १४

(१५) हे प्राणी ! तुम्हें समकित किस प्रकार आई ! देव तो जिनेश्वर हैं और सच्चा धर्म उनके द्वारा बताया हुआ धर्म। यदि तू वास्तव में चतुर है तो सद्‌गुरु का संग प्राप्त कर इनका निर्णय करो। —प्रा० स० १५

(१६) हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! जीव-अजीव के छः द्रव्य किए हैं और न्याय पूर्वक उन्हें ही नौ तत्त्व के रूप में बतलाया है। समदृष्टि इन्हें पहचान कर अभ्यन्तर में ग्रहण करता है तब ही उसके घट में निशंक रूप से श्रद्धा देवी आकर बैठती है। —प्रा० स० १६

३

तीन परम पद

गुरु महिमा

(१) देव, गुरु और धर्म ये तीन परम पद हैं, सच्चे देव में देव बुद्धि, सच्चे गुरु में गुरु बुद्धि और सच्चे धर्म में धर्म बुद्धि रखना समकित है जो मोक्ष का पहला पगोथिया है।

(२) तीन तत्त्वों में गुरु का पद ऊँचा है। सच्चे देव और सच्चे धर्म की प्राप्ति सच्चे गुरु की संगति बिना दुर्लभ है।

(३) तराजू की डंडी के तीन छिद्र होते हैं—एक बीच में और एक-एक दोनों किनारों पर। तकड़ी के दोनों पल्ले बीच वाले छिद्र के बल पर ही समतुल रह सकते हैं।

(४) बीचवाले छिद्र में थोड़ा भी फर्क होने से—वह ठीक मध्य में न होने से—उसका असर दोनों पल्लों पर पड़ता है जिसे 'काण'—अन्तर कहते हैं। यदि बीचवाला छिद्र ठीक मध्य में

ा है तो दोनों पल्ले भी समान झुके रहते है उनमें किसी ार का अन्तर—काण नहीं आती।

(५) इसी तरह देव, गुरु और धर्म इन तीन पदों में गुरु केन्द्र का पद है। गुरु निर्ग्रंथ गुणवान होने से वह देव और ं दोनों ही ठीक-ठीक बतलाता है, परन्तु यदि गुरु ही श्रद्धा भ्रष्ट ार हीनाचारी हो तो वह देव के स्वरूप में फर्क डाल देता है ार धर्म के असली स्वरूप को बतलाने मे भी अंधेर कर देता है।

(६) जैसा गुरु होता है वैसा ही वह धर्म और देव बत ाता है। गुरु ब्राह्मण होने पर वह महादेवजी को देव बतलाता और विप्रों को जिमाना धर्म और गुरु कांवरिया होने से वह ामदेवजी को देव बतलाता है और कांवर को जिमाना और म्मे की रात्रि जागना धर्म बतलाता है।

(७) यदि हिंसाधर्मी गुरु मिलता है तो वह निर्गुण कुकर्मी ो देव बतलाता है और सूत्र के वचनों को उत्थापता हुआ ल-फल पिलाने-खिलाने में धर्म बतलाता है।

(८) सच्चा निर्ग्रंथ मिलने पर वह अरिहन्त भगवान को देव तलाता है और धर्म जिन आज्ञा में चलना बतलाता है। इस तरह ुरु शुद्ध होने पर देव और धर्म में भी अन्तर—काण नहीं आती।

(९) निर्ग्रंथ गुरु काष्ठ की दुरुस्त नाव की तरह होते हैं। स्वयं तिरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं। वेषधारी काष्ठ की फूटी नौका की तरह होते हैं जो स्वयं भी डूबते और दूसरों को भी डूबोते हैं। पाखण्डी पत्थर की नौका की तरह हैं। ये तो

सूरत से ही पहचाने जा सकते हैं। बुद्धिमान उन्हें पहिले से छोड़ देते हैं अङ्गीकार कर भी लेते हैं तो उन्हें छोड़ना सरल होता है, परन्तु फूटी नौका के समान वेशधारियों को पहचानना कठिन होता है। एक बार अङ्गीकार करने पर उनको छोड़ना कठिन होता है।

(१०) हलुए से भरे थाल में जिमने से ही किसी जिमनेवालों की पेट को तृप्ति हो सकती है, खाली ठीकरे को देख कर भूख नहीं बुझ सकती, उसी तरह गुणवान निर्ग्रंथ गुरु के चरणों की सेवा से ही आत्मा का कार्य सिद्ध हो सकता है, ठीकरे समान हीनाचारी पुरुषों को गुरु बना कर रखने से नहीं।

(११) जो रुपये उधार लेकर उन्हें समय पर फिरती लौटाता है वह साहुकार कहलाता है और जो फिरती नहीं लौटाता और उलटा झगड़ा करने लगता है वह दिवालिया कहलाता है। उसी प्रकार जो पंच महाव्रत रूपी संयम धर्म को स्वीकार कर उसका सम्यक् रूप से प्रतिपालन करता है वह सच्चा निर्ग्रंथ—साधु है और जो व्रतों को अङ्गीकार कर उनका पालन नहीं करता उलटा दोष होने पर दोष में धर्म बतलाने लगता है पर उसका दण्ड नहीं लेता वह असाधु है।

(१२) सताईस गुणों से सम्पन्न उत्तम आचारी पुरुष की सेवा से निर्मल धर्म और निर्दोष देव की प्राप्ति होकर जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।[१]

१—यह प्रकरण 'भिक्षु यश रसायण' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित श्रीमद् आ० भीखणजी के दृष्टान्तों के आधार पर लिखा है।—

४

विनय-विवेक

(१) 'जिन भगवान ने विनय को धर्म का मूल कहा है'—ऐसा सब कोई कहते हैं परन्तु उसके रहस्य को विरले ही समझते हैं।

(२) भगवान ने विनय करने का तो कहा है परन्तु हर किसी के विनय करने का नहीं, भगवान के वचनों का रहस्य यह है कि जो सद्गुरु का विनय करता है वही मुक्ति की नींव डालता है। —कु० छो०[1] दो० १

(३) जो असत् गुरु का विनय करता है वह किस तरह इस भव का पार पा सकता है? जो सत् असत् गुरु की पहचान नहीं

१—अर्थात्—कुगुरु छोडावणी सज्झाय। देखो 'श्रद्धा आचार की चौपाई' पृ० ७६-८७।

करता वह मनुष्य अवतार को यों ही गमाता है। —कु॰ छो॰ दो॰ २

(४) कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि, बाप और गुरु एक समान होते हैं, अच्छा और बुरा क्या जिसे एक बार मुख से गुरु कह दिया उसे नहीं छोड़ना चाहिए। परन्तु यह बात ठीक नहीं है।
—कु॰ छो॰। दो॰ २

(५) जिन आगम में कहा है कि परीक्षा कर गुरु करना चाहिए। उसकी विशेष कीमत करनी चाहिए। असत गुरु का संग नहीं करना चाहिए। —कु॰ छो॰ ४

(६) कई कहते हैं कि, हमें किसी के आचारण से क्या मतलब है ? हम तो जिसके पास ओघा और मुंहपती देखते हैं उसी को सिर झुका कर नमस्कार करते हैं। ओघा ऊन का होता है और मुंहपती कपास की। ऊन भेड़ के होती है और कपास वृक्ष के। यदि ओघे को वन्दना करने से ही तिरना होता हो तब तो भेड़ के पैरों को पकड़ना चाहिए और कहना चाहिए, 'हे माता ! तू धन्य है कि तुमने ओघे को पैदा किया' और यदि मुंहपती वन्दना से ही तिरना होता हो तब वणी के वृक्ष की वन्दना करनी चाहिए। परन्तु इस तरह वेषधारियों की वंदना से संसार-समुद्र से तिरना कैसे होगा ?

(७) भगवान ने कहा है कि लकीर के फकीर मत बनो। किसी चीज को पकड़ कर मतामही मत बने परन्तु जब यह मालूम हो जाय कि यह वस्तु खोटी है तो उसे उसी समय छोड़ दो। कु॰ छो॰। ५

(८) जो ऐसा कहते हैं कि गुरु गहला हो या बावला वह देवों का देव है, समझदार चेले को उसकी सेवा करनी चाहिए, उन्हें जिनमार्गी नहीं कहा जा सकता। —कु० छो० २

(९) जिन भगवान का बतलाया साधु मार्ग सौचंद सोना है, इसमें खोट नहीं खटा सकती। चेला चूके तो गुरु उसे तत्क्षण छोड़ दे और गुरु चूके तो चेला उसका त्याग कर दे, यही जिन मार्ग है। —कु० छो० ३

(१०) साधु किसका सगा है कि मोह करता फिरे ? वह आचारी की संगति करता है और अणाचारी से तत्क्षण दूर हो जाता है। —कु० छो० ४

(११) भगवान ने गुण होने से पूजा करने का कहा है परन्तु ये निर्गुण की पूजा करते जा रहे हैं ? देखो ! ये लोग प्रत्यक्ष भूले हैं, इनको किस प्रकार रास्ते पर लाया जाय ? —कु० छो० ७

(१२) सोने की छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई पेट में नहीं मारता, ठीक उसी तरह समझदार, गुरु होने पर भी, दुर्गति में ले जानेवाले वेषधारी का विनय नहीं करते—उसे तुरन्त छिटका देते हैं। —कु० छो० ८

(१३) भगवान ने कहा है कि कुगुरु की संगत मत करना। अब मैं सूत्रों की साक्ष्यपूर्वक यह बतलाऊँगा कि किन-किन ने कुगुरुओं को छोड़ा। —कु० छो० १०

(१४) सावत्थी नगरी के बाग की बात है। जमाली भगवान की बात उथाप कर उनसे अलग हो गया। उस समय

उसके पांच सौ शिष्यों में से बहुत-से भगवान की शरण में आ गये। जिन्होंने जमाली को छोड़ दिया, भगवान ने उनकी प्रशंसा की है। यह बात भगवती सूत्र में आई है। —कु० छो० १५-१८

(१५) श्रावस्ती नगरी के बाहर कोठग नाम के बाग में गोशालक और भगवान की चर्चा हुई। गोशालक ने भगवान की जरा भी काण न रखी और उन्हें अपशब्द कहे और तेजो लेश्या छोड़ कर भगवान के दो साधुओं को जला डाला परन्तु जब पूछे हुए प्रश्न का उत्तर न दे सका तो गोशालक के चेलों ने उसे छोड़ने में जरा भी संकोच न किया और भगवान की शरण में आकर अपनी आत्म का कार्य सिद्ध किया। जो गोशालक के पास रहे और उसकी टेक को रक्खा वे बिना विवेक कुगुरु की सेवा कर डूबे। यह बात भगवती सूत्र के १५ वें उद्देशक में आई है। —कु०छो० १५-२२

(१६) सुदर्शन सेठ ने सुखदेव सन्यासी को अपना गुरु बनाया परन्तु जब उसको अपनी भूल मालूम हुई तो जरा भी काण (खातिर) न करते हुए उसे छोड़ दिया। —कु० छो० २३

(१७) सुखदेव सन्यासी ने सुदर्शन के नए गुरु थावर्चा पुत्र के दर्शन किए और जब उनकी बात को सच्चा समझा तो हजार चेलों सहित थावर्चा पुत्र को गुरु माना। यह बात ज्ञाता सूत्र के पांचवें अध्ययन में आई है। —कु० छो० २३-२८

(१८) सेलक राज ऋषि के पांच सौ चेले थे। वे विहार करते-करते सेलकपुर पहुंचे। वहां पर वे उपचार के लिए रथ

शाला में उतरे। स्वस्थ हो जाने पर भी सेलक ऋषि ने वहाँ से विहार नहीं किया। उन्होंने खाने-पीने में चित्त दे दिया और आसक्त होकर नाना प्रकार के रस संयुक्त आहार करने लगे। इस तरह वे ढीले पासत्थे आदि हो गये। यह देख कर पथकवग्जी आदि पाँच सौ शिष्य एक जगह मिले और वहाँ से विहार करना श्रेयस्कर समझ ढीले गुरु को वहीं छोड़ विहार कर दिया और इस तरह जिन-मार्ग की रीत को अच्छी तरह बतला दिया। —कु० छो० २९।३५

(१९क) ज्ञाता सूत्र में जिन भगवान ने कहा है कि मेरे जो साधु साध्वी सेलक की तरह ढीले पड़े वे गण में अच्छे नहीं हैं। वे बहुत साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं के बीच अवहेलना और निन्दा के पात्र हैं। इस तरह जब गुरु असत मालूम दे तो जरा भी संकोच किए बिना उसे छोड़ देना चाहिए।

—कु० छो० ३९-४०

(१९ख) सकडाल कुम्हार ने गोशालक को अन्तिम तीर्थंकर मान कर गुरु किया परन्तु जब भूल मालूम हुई और उसको सच्चा न समझा तो जरा भी परवाह न करते हुए उसे छोड़ दिया और भगवान को अपना गुरु माना। यह कथा सातवें अङ्ग में है। —कु० छो० ४५,४६,४७

(२०) अङ्गाल मर्दन साधु के पाँच सौ चेले थे। वे अभव्य जीव हैं—ऐसा चेलों को मालूम न था। परन्तु जब चेलों ने गुरु को समझ लिया और उनको विश्वास हो गया कि वह तिरण

तारण नहीं है और दया रहित है तो, बिना मोह किए, उसे छोड़ दिया। यह स्थानाङ्ग सूत्र के अर्थ में कथा में आया है। यह निश्चय ही सूत्र की बात है कि असत् गुरु को छोड़ देना।

—कु० ढो० ५१,५४,५५

(२१) इस प्रकार बहुत से साधु साध्वी कुगुरु छोड़ कर तिरे हैं। वे करणी कर मुक्त हुए हैं और भगवान ने उनकी प्रशंसा की है। —कु० ढो० ५७

(२२) गहले गुरु-गुरु चिल्ला रहे हैं परन्तु उन्हें सच्चा गुरु कौन होता है इसकी खबर नहीं है। जो हीनाचारी को गुरु करते हैं वे चारों गति में गोता खाते हैं। —कु० ढो० ५८

(२३) जो कुगुरु को छोड़ कर सत् गुरु की शरण लेते हैं और व्रतों को अखण्ड पालन करते हैं वे सत् गुरु के प्रसंग से तिरे हैं, तिरेंगे और तिर रहे हैं। —कु० ढो० ५९

श्रावक आचार

'+ + + + वे अमुक प्रकार की हिंसा से विरत हुए होते हैं, परन्तु अमुक प्रकार की हिंसा से जन्म भर विरत हुए नहीं होते। इसी प्रकार वे ऐसे दूसरे भी जो पापयुक्त कर्म हैं उनमें से कितनेक से विरत हुए होते हैं और कितनेक से विरत हुए नहीं होते।

कितनेक श्रमणोपासक जीव और अजीव तत्वों को जाननेवाले होते हैं, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, उसका अधिकरण, बंध तथा मोक्ष किसको कहते हैं – यह सब जाननेवाले होते हैं। दूसरे किसी की मदद न होने पर भी देव, असुर, राक्षस या किन्नर वगैरह भी उनको उन सिद्धान्तों से चलित नहीं कर सकते। उनको जैन सिद्धान्तों में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा नहीं होती। वे जैन सिद्धान्तों के अर्थ को जानपूछ कर निश्चित किए हुए होते हैं। उनको उन सिद्धान्तों में, हड्डी और मज्जा जैसा प्रेम और अनुराग होता है। उन्हें विश्वास होता है कि, 'ये जैन सिद्धान्त ही अर्थ तथा परमार्थरूप हैं, और सब अनर्थरूप हैं।' उनके घर की आगलें हमेशा अलग की हुई रहती हैं, उनके दरवाजे हमेशा अभ्यागतों के लिए खुले रहते हैं। उनके दूसरों के घर में या अन्तःपुर में प्रवेश करने की कामना नहीं होती। वे चौदश, आठम, अमावस्या तथा पूनम के दिन परिपूर्ण पोषध व्रत विधिसर पालन करते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमणों को वे निर्दोष और स्वीकार करने योग्य चारों प्रकार के आहार, वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण, पादप्रोंछन, बैठने सोने के बाजोट, शय्या और वासस्थान आदि देते रहते हैं। इस प्रकार, वे बहुत शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यानव्रत, पोषधोपवास वगैरह तप कर्मों द्वारा आत्मा को वासित करते जीवन बिताते हैं। अन्त में मरणान्तिक संलेखना कर अपनी आयुष्य पूरी करते हैं। —सूयगडांग २।२।२४

१

सच्चा श्रावक कौन ?

(१) भगवान ने सच्चा श्रावक उसे कहा है जो चेतन पदार्थ जीव को उसके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और पशु, पक्षी, मनुष्य (तिर्यंच) आदि भिन्न-भिन्न भेदों के साथ जानता है; जो चलन सहायी धर्मास्तिकाय, स्थिर सहायी अधर्मास्तिकाय, जीव और अजीव वस्तुओं को स्थान देने वाले आकाशास्तिकाय, वस्तुओं में परिवर्तन के कारण काल और जड़ पदार्थ पुद्गल को पहचानता है; जो सुख के कारण पुण्य और दुःख के कारण पाप कर्मों को जानता है; जो यह जानता है कि मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच आश्रव कर्म ग्रहण के हेतु हैं और सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये कर्म को रोकने वाले, अतः प्रकारान्तर से संताप

को दूर करनेवाले संवर हैं; चेतन जीव और अचेतन जड़ पुद्गल के परस्पर बंधन को ढीला करनेवाला निर्जरा पदार्थ है यह जान कर जो सदा उपवास, अल्पाहार, भिक्षाचरी, रसत्याग, कायक्लेश, संलीनता, प्रायश्चित, विनय, शुश्रूषा, स्वाध्याय, ध्यान, और कायोत्सर्ग इन तपों का आचरण करता है, जो ऐहिक सुखों को नगण्य मानता है और पूर्ण स्वतन्त्र हुई आत्मा के सुखों को ही सच्चा और स्थायी मानता है, जिसकी आभ्यन्तर आँखें खुल गयी हैं; वही उत्तम श्रावक है। —श्रा० गु०* ११२

(२) वास्तविक धर्म और देव अर्थात् जिन स्वरूप को बतलाने वाला गुरु ही होता है। प्रत्यक्ष सद्गुरु के समान परोक्ष जिन का भी उपकार नहीं होता। गुरु के इस महत्त्व के कारण ही भगवान के केवली हो जाने पर भी छद्मस्थ गुरु को वन्दना करने के उदाहरण दिखाई पड़ते हैं। इसलिये श्रावक वह है जो केवल बाह्य त्यागी परन्तु ज्ञानहीन गुरु को ही सत्य गुरु नहीं मानता, न निज कुल के धर्म के गुरु में ही ममत्व रखता है और न अपनी कीर्त्ति आदि के लिये असद्गुरु की मान्यता को दृढ़ करता जाता है। परन्तु जो खुद ही अपनी बुद्धि से गुरु को परख कर अन्तरङ्ग ज्ञानी को गुरु मानता है, जो बाह्य भेष में नहीं भूलता और शुद्ध आचार खोजता है, वही सच्चा श्रावक है।

—श्रा० गु० ११३

* अर्थात्—'श्रावक गुण रासमाला'। इसके लिये 'देखो श्रावक पुस्तक। पृ० २१८-२०

(३) जो व्रतों को रत्नों की माला समझ कर सतत् उसकी रक्षा करता है; जो असंयम (अविरतिमय जीवन) को दुःखों की—अनर्थ की—खान समझता है और रेणादेवी[1] से भी अधिक बुरा समझ उसको छोड़ता जाता है—वही सच्चा श्रावक है।

—श्रा० गु० १।४

(४) भगवान ने कहा है कि सच्चा श्रावक वह है जो यह समझता है कि मैंने जितनी दूर तक व्रत ग्रहण किया है उतनी ही दूर तक जिनधर्मी—जैनी हूँ, बाकी संसार के कार्य करता हूँ वह सब कर्म-बन्धन के ही कारण हैं। —श्रा० गु० १।५

(५) भगवान ने श्रावक उसको कहा है जो निरवद्य कार्य में ही भगवान की आज्ञा समझता है; जो कर्मों को रोकने या

---

१ रेणा देवी रत्न दीप में बसनेवाली एक व्यन्तरी थी। उसने जिन रक्षित और जिन पालित नाम के दो भाइयों को अपने मोह में फँसा लिया था। उन दोनों के उद्धार का भार शैलक यक्ष ने लिया। उसने कहा कि मैं अपनी पीठ पर बैठा कर तुम लोगों को यहां से निकाल दूँगा परन्तु शर्त यह है कि देवी पीछा करे तो उसके सामने न देखना। यह कह शैलक यक्ष जिन रक्षित और जिन पालित दोनों को अपनी पीठ पर बैठा देवी के वासस्थान से उन्हें ले निकला। परन्तु जिन रक्षित ने रयणा देवी की प्रीति को नहीं छोड़ा, जब वह पीछा करने लगी और नाना प्रकार के भयकारी और प्रेममय वचन बोलने लगी तो जिन रक्षित मुंह घुमा कर उसकी ओर देखने लगा, इस पर यक्ष ने उसे नीचे गिरा दिया इस तरह उसकी फजीत हुई। शैलक यक्ष को संयम समझो रेणा देवी की तरह दुष्ट अव्रत को

उनको नाश करने में ही धर्म समझता है और कर्म बंध को अधर्म समझता है। निरवद्य करणी धर्म है और सावद्य करणी में जिन आज्ञा न होने से वह अधर्म मूलक—पाप बन्ध की हेतु है—यह जो जानता है वही सच्चा श्रावक है।

—श्रा० गु० ११६

(६) श्रावक वह है जो वेषधारी पाखण्डियों से परिचय नहीं बढ़ाता और न उनसे वार्तालाप करता है। श्रावक ऐसे गुणहीन साधुओं के सामने कभी नीचा सिर नहीं करता और न ऊंचे हाथ अर्थात् वन्दना करता है। —श्रा० गु० ११७

(७) जो किसी का भ्रमाया हुआ साधुओं से द्वेष नहीं करता; न झूठा पक्षपात करता है; जो कभी झूठ नहीं बोलता और सदा जिन भगवान की आण को सिर चढ़ाए रखता है, वही सच्चा श्रावक है। —श्रा० गु० ११८

समझो। अव्रत को पहले छोड़ कर संत जिन रक्षित और जिन पालित मुक्ति नगर की ओर निकले। शैलक यक्ष और रेणा देवी के परस्पर मेल नहीं है। उसी प्रकार संयम और अव्रत के मेल नहीं है। जिस तरह शैलक यक्ष पार पहुँचानेवाला और रेणा देवी भ्रष्ट करनेवाली है उसी तरह व्रत सत्धर्म संसाररूपी समुद्र को पार पहुँचानेवाला और अव्रत अधर्म पाप लगाने वाला है। जिन पालित समुद्र पार कर अपने कुटुम्बियों से मिल सका परन्तु जिन रक्षित त्रिशूल में झूलता रहा उसी प्रकार सुसंयमी समुद्र पार कर अपने स्वभाविक गुणों से मिलते हैं परन्तु अव्रतों से मोह रखनेवाला अनन्त काल तक संसार रूपी त्रिशूल पर झूलता रहता है।—व० वि० ११३७-१४०

(८) सच्चा श्रावक वह है जो गुरु को दोष सेवन करते हुए देखता है तो मौन नहीं रहता परन्तु उसी समय उसका निपटारा करता है। यह जिन शासन की पाल है कि ऐसे प्रसंग पर लल्लू-चप्पू न करे। —श्रा० गु० १।९

(९) ऐसे अवसर पर सच्चा श्रावक कुगुरु-वंदन के फल अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करना समझ शिथिलाचारी गुरु का वन्दन नहीं करता। भगवान के ये वचन हैं। श्रावक सदा इनकी संभाल करे। —श्रा० गु० १।१०

(१०) श्रावक कुगुरु को काले नाग की तरह समझे। जिस तरह काले सर्प का डंक भयंकर होता है उसी तरह कुगुरु दुर्बुद्धि देकर भयानक दुःख उपजाता है। कुगुरु मुक्ति नगर के धाड़वी होते हैं, वे दिन दहाड़े लूटते हैं पर मन में जरा भी खटका नहीं लाते। —श्रा० गु० १।११

(११) सच्चा श्रावक वह है जो एकाग्र चित्त से संतों की सेवा करता और उनके उपदेशों को सुनता है। जो साधु के गुणों को देख कर हर्षित होता है और साधु के वचनों को सुन कर अपार उल्लास का अनुभव करता है।

—श्रा० गु० १।१२

(१२) जो आह्लादित भावना और एकाग्र मन से मस्तक को नीचा कर, तीन प्रदक्षिणा देकर, दोनों हाथ जोड़ कर तथा मस्तक को पैरों के लगाकर सद्‌गुरु की वन्दना करता है वही सच्चा श्रावक है। —श्रा० गु० १।१३

(१३) यदि मार्ग में मुनियों का दर्शन हो जाता है तो सहर्ष इनकी वन्दना करता है। मुनिराज को देख कर उसका रोम-रोम विकसित हो जाता है और वह बहुत ही विनय भाव करने लगता है। श्रा० गु० १।१४

(१४) जो प्राणी हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि पापों का अपनी शक्ति प्रमाण मर्यादित त्याग करता रहता है; जो बार-बार भोगने की और एक ही बार भोगी जा सकनेवाली वस्तुओं की मर्यादा कर संयमी और सादा जीवन व्यतीत करता है; जो अपने जीवन की जरूरतों को परिमित क्षेत्र में ही पूरा करता है, जो निर्थक पापों से बचता है, सब जीवों के प्रति सम भाव रूप सामायिक को किया करता है, जो उपवास और पोषध किया करता है तथा सत पुरुषों को शुद्ध दान देता रहता है, वही सच्चा श्रावक है। जो त्याग—व्रत ग्रहण—में ही धर्म समझता है और गृहस्थ जीवन की सुविधा के लिए हिंसा आदि पाप कार्य करने की जो छूट रखी है उसे खुद सेवन करने में और दूसरों को करवाने में—जरा भी धर्म नहीं समझता वही भगवान का बताया हुआ सच्चा श्रावक है। —श्रा० गु० १।१५

(१५) लोग कहते हैं कि पर निन्दा करनेवाला पापी होता है। वास्तव में निन्दा नर्क में ले जाती है। इन्द्रियों का निग्रह जिन शासन की विशेषता है उस जिन शासन की शरण लेकर श्रावक को किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये।

—श्रा० गु० १।१७

(१६) वही सच्चा श्रावक है जो यह जानता है कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये जो छः तत्त्व हैं वे क्या हैं और उनको द्रव्य क्यों कहा है ? जो इन द्रव्यों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण और पर्याय सहित जानता है, वही सच्चा श्रावक है। —श्रा० गु० ११८

(१७) जो जिन भगवान की आज्ञा शिरोधार्य करनेवाला श्रावक है वह किसी को चुभती, मर्मभेदी या मोसा रूप बात नहीं कहता; वह कभी झूठी बकवाद नहीं करता। जिन भगवान का अनुयायी न झूठा कथन करता है और न कभी दगा या फरेब करता है। —श्रा० गु० ११९

(१८) जो कभी किसी को ओछे वचन नहीं कहता, जो गुणी और अत्यन्त गम्भीर होता है, जो चर्चा करते हुओं के बीच नहीं बोलता, परन्तु जिस तरह बकरी चुपचाप जल पीती है उसी प्रकार चुपचाप चर्चा का रस लेता रहता है वही सच्चा श्रावक है। —श्रा० गु० १२०

(१९) यदि साधु व्याख्यान दे रहे हों तो श्रावक व्याख्यान श्रवण में बाधा नहीं डालता; यदि कोई जिन मार्ग को न समझे तो श्रावक उस पर क्रोध या खेद नहीं लाता परन्तु उसके अशुभ कर्मों का उदय समझ कर शान्त चित्त रहता है।

—श्रा० गु० १२१

२

नर्कगामी श्रावक

(१) अहो ! यह पाँचवाँ आरा निश्चय ही दुषम काल है। आज के गृहस्थ केवल 'श्रावक' और 'श्राविका' नाम मात्र को धारण करते हैं। वे गुणहीन फूटे हुए ठीकरे की तरह हैं जिनके लिए नर्क ही स्थान है। —श्रा० न० श्लो० १

(२) इन श्रावक श्राविकाओं का काम ही दिन रात हीनाचारी कुगुरुओं की सेवा करना रह गया है। झूठी पक्षपात कर ये झूठों को सच्चा बनाने की चेष्टा करते रहते हैं।

—श्रा० न० श्लो० २

(३) ये श्रावक श्राविकाएँ मूल में ही मुक्ति-मार्ग को भूले हुए हैं। ये अपने गुरुओं के लिए स्थानक आदि बनवा कर

१—अर्थात् 'श्रावक नर्कगामी नवक' नामक ढाल।

जीव हिंसा करते हैं ऊपर में उसमें धर्म समझते हैं। ये जो हिंसा में धर्म समझ रहे हैं वे नर्क की नींव डाल रहे हैं। —श्रा० न० २

(४) ये गाडे-गाडे पृथ्वी मंगा कर तथा वाणे-वाणे जल मंगा कर अनन्त काय का नाश कर अपने गुरुओं के लिए स्थानक बनाते हैं। इस तरह स्थानक बनाने में धर्म समझने से आज जगह-जगह स्थानक खड़े हो गये हैं।

—श्रा० न० ६,८

(५) पूछने पर वे लज्जावश कहते हैं कि हमने साधुओं के लिए नहीं परन्तु अपने साधर्मी भाइयों के लिए यह स्थानक बनाया है। इस तरह वे सारा दोष साधुओं पर से हटा लेते हैं परन्तु वास्तव में ये स्थानक गुरुओं की प्रेरणा से उनके लिए तैयार कराए जाते हैं। जो धर्म की बात में झूठ बोलता है वह कर्मों से भारी होता है और चीकने पाप बांधता है।

—श्रा० न० ९-१०

(६) धर्म की बात में झूठ बोलने से महा मोहनीय कर्म का बंध होता है जिससे उसे सतर कोड़ा कोड़ सागर तक जिन धर्म प्राप्त नहीं होता। —श्रा० न० ११

(७) अपने गुरुओं के दोष तो ये इस प्रकार ढक देते हैं परन्तु शुद्ध साधु पर दोष मढ़ते हुए ये पापी जरा भी संकोच नहीं करते। —श्रा० न० १७

(८) ये शुद्ध साधुओं की निन्दा किया करते हैं। ... को देखते ही इनके हृदय में द्वेष जाग उठता है, और ...

प्रति वैरी और शत्रु का-सा व्यवहार करते हैं और विशेष छिद्रान्वेषण करते हैं। —श्रा० न० १८

(९) परन्तु जब ढूंढने पर भी दोष नहीं मिलता तब झूठे दोष लगा देते हैं और चारों ओर झूठ बोलते फिरते हैं। इनसे निपटारा किस तरह हो ? —श्रा० न० २०

(१०) जो साधुओं की निन्दा करते हैं और उनसे विशेष द्वेष रखते हैं और न होने पर भी उन पर दोष मढ़ते हैं वे विशेष डूबते हैं। —श्रा० न० २१

(११) कई बुरी तरह कड़ी बातें करते हैं, कई साधुओं की घात करने पर तुले रहते हैं और नाना प्रकार के शब्दों के परिषह देते हैं इस प्रकार दिन रात द्वेष से जलते रहते हैं।—श्रा० न० २४

(१२) साधु से वैर ठानने के लिए ये सब एक हो जाते हैं और भोले लोगों को साधुओं के पीछे लगा देते हैं।

—श्रा० न० २५

(१३) जो बात जैसी है वैसी ही कहने को निन्दा नहीं समझना चाहिए। यथातथ्य निशंक भाव से कहना चाहिए परन्तु ऐसा कहने के लिए भी अवसर देखना चाहिए।

—श्रा० न० २९

(१४) देखो, इस आरे के ये श्रावक झूठ ही श्रावक कहलाते हैं! ये जीव अजीव नहीं जानते, न आश्रव संवर की इन्हें खबर है। देखो, ये धर्म समझ कर आश्रव का सेवन करते जा रहे हैं! देखो, ये प्रत्यक्ष भूले हुए हैं। —श्रा० न० ३०

(१५) देखो, यह वस्त्र, अन्न, जल, स्त्री आदि भोग-परिभोग की वस्तुओं का सेवन अव्रत आस्रव है, परन्तु आज के ये श्रावक इनके सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने में धर्म समझते हैं। —श्रा० न० ३१

(१६) इन्हें देव गुरु धर्म की पहचान नहीं है केवल थोथे बादल की तरह गाज रहे हैं। ये धर्म के धोरी हो बैठे हैं पर मूर्ख और असमझ हैं। —श्रा० न० ३२

(१७) जब चर्चा में ये अटक जाते हैं तब बिना विचारे अंट संट बोलने लगते हैं परन्तु रूढ़ि को नहीं छोड़ते।

—श्रा० न० ३३

(१८) ये गुरु के लक्षण और आचार को नहीं जानते, न इन्हें यह मालूम है कि सच्ची श्रद्धा क्या है। देखो, ये व्रत विहीन आचारभ्रष्ट साधुओं की वन्दना करते जा रहे हैं।

—श्रा० न० ३४

(१९) देखो, ये जान-जान कर घी, चीनी, गुड़, मिश्री आदि मोल ले-लेकर साधुओं को बहरा रहे हैं और समझते हैं कि बारहवां व्रत उत्पन्न हुआ। देखो! ये कितने मूढ़ और अज्ञानी हैं। —श्रा० न० ३५

(२०) देखो, इन्हें इतना भी मालूम नहीं है कि साधु के लिए मोल खरीद कर साधु को भिक्षा देने से बारहवां व्रत सफल नहीं होता परन्तु वह नष्ट होता है। इनके व्रतों में कितनी पोल है। —श्रा० न० ३६

(२१) ये श्रावक गुरु के लिए स्थानक मोल लेते हैं या भाड़े लेते हैं। इस तरह अशुद्ध स्थान देने से बारहवां व्रत नष्ट होता है। ये श्रावक कहला कर भी नर्क में जायंगे।

—श्रा० न० ३७

(२२) घर में कपड़ा न रहने पर ये बाजार से कपड़ा खरीद कर या गांव गांवान्तर से मंगाकर साधुओं को देते हैं। इस तरह जो मोल ले लेकर वहराने में धर्म समझने वाले श्रावक हैं वे निश्चय ही दुर्गति को प्राप्त होंगे। —श्रा० न० ३८-३९

(२३) देखो, ये जब दूसरे के घर में जीमनवार होता है तब वहां से मांड, धोवण, गर्म जल आदि साधु को वहराने के लिए अपने घर लाकर रख लेते हैं और फिर साधु को निमन्त्रण देकर वहराने में धर्म समझते हैं। परन्तु ये अज्ञानी भ्रम में पड़े हुए हैं।

—श्रा० न० ४०-४१

(२४) कई श्रावक साधुओं को वहराने के लिए अधिक धोवण करते हैं या गर्म जल के मटके भर-भर कर रख देते हैं। इस तरह जो अधिक साधु साध्वी जान कर अधिक आहार बनाते हैं और फिर पातरे भर भर के वहराते हैं वे परभव में दुख पावेंगे। —श्रा० न० ४१-२

(२५) अशुद्ध आहार पानी वहराने से पाप कर्म के समूह बंधते हैं और जो साधु अशुद्ध जान कर वहरता है वह साधु भी साधुपन से भ्रष्ट होता है। —श्रा० न० ४३

(२६) कई आहार असूझता बहराते हैं, कई अशुद्ध वस्त्र बहराते हैं, कई अकल्प्य स्थानक आदि देते हैं, इस तरह सब की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। —श्रा० न० ४४

(२७) जो सौगन्ध नहीं लेता—त्याग नहीं करता वह पापी है और जो सौगन्ध तोड़ कर भी यह समझता है कि मैं बड़ा श्रावक हूँ उसके नर्क गति समझो। —श्रा० न० ४८

(२८) जिनके कुगुरु से अत्यन्त मोह है और साधुओं से अन्तर द्वेष उसके दोनों ओर दिवाला है। वह विशेष डूबेगा। —श्रा० न० ५५

(२९) वे कुगुरुओं की पक्षपात करते हैं। अपनी पकड़ी हुई बात को नहीं छोड़ते। उनके घट में घोर मिथ्यात्व रूपी अन्धकार है। —श्रा० न० १२।५६

३

बारह व्रत

व्रतों के नाम:

(१) भगवान ने गृहस्थ के लिए पांच अणुव्रत, तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत मय धर्म का उपदेश दिया है।

—१[1]। दो० १

(२) पहिले अणुव्रत में स्थूल हिंसा का त्याग, दूसरे में स्थूल झूठ का परिहार, तीसरे में स्थूल अदत्त का, चौथे में स्थूल मैथुन का और पांचवें में स्थूल परिग्रह धन आदि का त्याग करना होता है। —१। दो० २

१—बारह व्रत की ढाल। इन ढालों के लिए देखिये "श्रावक धर्म विचार" पृ० ५२-१६०

(३) पहला गुणव्रत दिशि मर्यादा सम्बन्धी है, दूसरे में उपभोग परिभोग का पच्चखाण—प्रत्याख्यान आता है, और तीसरे में अनर्थ दण्ड का परिहार है। —१। दो० ३

(४) पहिला शिक्षा व्रत सामायिक है, दूसरा संवर है, तीसरा पौषध कहलाता है और चौथा साधु को दान देना है। —१। दो० ४

(५) इन बारह व्रतों का क्रमवार विस्तार कहता हूँ। हे भव्य जनो! भाव पूर्वक सुनो और विचार कर ग्रहण करो।
—१। दो० ५

(६) जो उपरोक्त व्रतों को निरतिचार (निर्दोष पूर्वक) पालन करता है, वह दुर्गति नहीं जाता और संसार रूपी समुद्र को शीघ्र ही तिर जाता है। —१।१

(१) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत

व्रत का स्वरूप और प्रतिज्ञा ग्रहण

(१) (गुरु बोले)—पहले व्रत में एक त्रस (चलने-फिरने) और दूसरे स्थावर (स्थिर) इन दो प्रकार के जीवों की हिंसा का (भरसक) प्रत्याख्यान (त्याग) करना होता है। —१।२

(२) (गृहस्थ बोला)—मैं गृहस्थाश्रम में बसता हूँ। गृह कार्य करते हुए मुझ से स्थावर जीवों की हिंसा हो ही जाती है क्योंकि बिना आरम्भ किए पेट नहीं भरता (उदर पूर्ति नहीं होती) और आरम्भ में हिंसा हुए बिना नहीं रहती। —१।३

(३) इसलिए स्थावर जीवों की हिंसा का यथाशक्य परिमाण करता हूँ और चलते-फिरते जीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान करता हूँ। —११४

(४) चलते-फिरते जीवों के अनेक भेद ज्ञानी भगवान ने बतलाए हैं जिनमें अपराधी और निरपराधी यह भेद मुख्य है। —११४

(५) यदि कोई आकर मुझ पर हमला करे, डाका डाले, मुझे लूटे, या खून करे तो इसे चुपचाप सहन करना सरल नहीं परन्तु बड़ा कठिन है। इस तरह जो प्रत्यक्ष अपराधी जीव हैं उनके प्रति मुझे हिंसा का त्याग नहीं है। —११५-६

(६) निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा भी दो तरह की है। एक तो जान में जीवों को मारना और एक अजान में मारना। —११७

(७) मेरे धान आदि वजन करने का काम पड़ता रहता है, गाड़ी आदि पर सवारी कर ग्राम-ग्रामान्तर जाता रहता हूँ, खेती करते हुए हल चलाना पड़ता है, जमीन को पोली करना या घास का निनाण करना पड़ता है, और भी बहुत से ऐसे कार्य करने पड़ते हैं। ऐसा करने में अनेक निरपराध त्रस जीवों की भी घात हो ही जाती है। मैं गृहस्थ आश्रम में रहता हूँ। ऐसी अजान में हुई हिंसा के त्याग को कैसे निभा सकता हूँ? यह मेरे लिए संभव नहीं है। इसलिए निरपराधी त्रस जीवों को

भी अपनी जानकारी में—चेष्टा पूर्वक मारने का ही मुझे व्रत (त्याग) है अजानकारी में नहीं। —१।८-१०

(८) मैं साधु की तरह इतना समितिवान नहीं हूँ कि चलूं उस समय इस बात का खयाल रक्खूँ कि किसी प्राणी को ईजा न हो। मुझे अन्धेरे में भी चलना पड़ता है। न मुझ में इतनी सावधानी है कि मैं किसी वस्तु को देख-पूंज कर लेऊँ या रखूँ। इस तरह उपयोग के अभाव में भी निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। मुझे इसका त्याग नहीं है। —१।११

(९) मैं गृहस्थ हूँ, मुझे गाय भैंस बैल आदि चतुष्पदों को हांकने तथा दास-दासी, पुत्र-पौत्रादि द्विपदों को ताडन आदि का कार्य करना पड़ता है, इसलिए थप्पड़ न लगाने और लाठी न मारने का नियम मुझ से किस प्रकार निभ सकता है? ऐसा करने में जीवों की घात हो सकती है। इनको मारने का मेरा इरादा नहीं है फिर भी वे मर जाते हैं, उसका मुझे त्याग नहीं है। —१।१२-१३

(१०) इस तरह मैं निरपराध चलते-फिरते जीवों को जान में (Knowingly) मारने की चेष्टा कर, आत्म जागृतिपूर्वक (in full consciousness) मारने के अभिप्राय (इरादे) से हिंसा करने का प्रत्याख्यान करता हूँ। इस ब्यौरे के साथ तीन करण, तीन योग के इच्छानुसार भांगों से जीवन पर्यन्त हिंसा का प्रत्याख्यान या परिमाण मैंने प्रथम व्रत में किया है। —१।१४-१५

गृहस्थ जीवन से असन्तोष, एवं अहिंसा की कामना

(११) वे धन्य हैं जिन्होंने वैराग्य धारण किया है, जिनके सर्व हिंसा का त्याग है, जिनके हृदय में त्रस स्थावर जीवों के प्रति अत्यन्त अनुकम्पा है। —१।१६

(१२) हे मुनिराज ! मैं गृहस्थ हूँ, मेरे आरम्भ करने का काम पड़ता ही रहता है। मेरे त्रस स्थावर जीवों की हिंसा सम्बन्धी बहुत अव्रत है। —१।१७

(१३) वे मुनिराज धन्य हैं जो समिति गुप्तियों आदि से संयुक्त होकर जीवन पर्यन्त सर्व अहिंसा के पालन में अणी भर भी नहीं चुकते। —१।१८

(१४) धिक्कार है गृहस्थावास को ! मेरे लिए यह एक गुरुतर बंधन हो पड़ा है। मुझ से बहुत हिंसा हो रही है। मैं जानता हूँ वह मेरे लिये हितकारी नहीं है। जहाँ तक हो सकेगा ज्ञानादि अंकुश से मन रूपी हाथी को ठिकाने पर लाने की चेष्टा करूँगा। जहाँ तक हो सकेगा हिंसा से टलूँगा और दया का पालन करूँगा। —१।१९-२०

(१५) वे वीर साधु धन्य-धन्य हैं जिन्होंने गृहस्थाश्रम रूपी लफरे (जंजाल) को दूर कर दिया है परन्तु खेद है कि मुझ से इस प्रकार का खाता नहीं खत सकता। —१।२१

व्रत के दूषण

(१६) स्थूल हिंसा के त्यागी व्रत के दूषण श्रावक को शुद्ध रूप से व्रत पालन करने के लिए निम्नलिखित अतिचारों को जान कर उनसे बचना चाहिए। क्योंकि ये व्रत के दूषण हैं:

(१) बंधन—मनुष्य, पशु, आदि प्राणियों को रस्सी आदि से बांधना; (२) वध—उनको चाबुक लकड़ी आदि से पीटना; (३) छविच्छेद—उनके नाक, कान आदि अङ्गों को छेदना; (४) अति भारारोपण—उन पर परिमाण से अधिक बोझा लादना; (५) भक्तपानव्यवच्छेद—उनके खाने पीने में रुकावट पहुँचाना। —अ०[१] ६-७

(२) मृषावाद विरमण व्रत

स्वरूप कथन

(१) (गुरु बोले)—श्रावक के दूसरे व्रत में गृहस्थ झूठ की मर्यादा करे—झूठ को बुरा समझ कर अधिक-से-अधिक त्याग करता हुआ जिन भगवान की आज्ञा की आराधना करे।

—२। दो० १

(२) झूठ बोलने वाले मनुष्य की जग में प्रतीत नहीं रहती, वह मनुष्य-जन्म को यों ही खो देता है और नर्क में उसकी फजीहत—दुर्दशा होती है। —२। दो० २

(३) झूठ—बड़ी (स्थूल) और छोटी (सूक्ष्म)—दो तरह की होती है। गृहस्थ स्थूल झूठ का और यथाशक्य सूक्ष्म झूठ का प्रत्याख्यान करे। —२।१

१—'९९ अतिचार की ढाल'। इसके लिए देखिए—"श्रावक धर्म विचार" पृ० १६०-१६५।

व्रत ग्रहण

(४) गृहस्थ बोला—"मैं गृहस्थ हूँ—मुझे परिवार से मोह—प्रेम है। मुझे आजीविका के लिए नाना व्यापार-धन्धे करने पड़ते हैं। मन में लोभ आदि प्रवृतियाँ हैं अतः सूक्ष्म झूठ से किस प्रकार बच सकता हूँ ? —२।२

(५) कन्यालीक, गवालीक, भू अलीक, न्यासापहार और झूठी सखी ये स्थूल झूठ के पांच प्रभेद हैं। मैं उनका परिहार करता हूँ। व्रत उसी रूप में लेना उचित है जिस रूप में निभ सके। —२।३-४

(६) कन्या के रूप, स्वभाव, आयु, स्वास्थ्य, कुल-शील आदि के विषय में अयथार्थ बात कहना यह कन्यालीक है। ऐसे प्रसंगों पर बोलने की जरूरत हो तो यथार्थ बात ही कहनी चाहिए। —२।५-१२

(७) हँसी दिल्लगी में ऐसी झूठ से बचना सहज नहीं, बहुत कठिन है। इसलिए हँसी-मस्करी में छोड़ कर जहाँ किसी के घर बसने का प्रसंग होगा उस परिस्थिति में झूठ नहीं बोलूँगा।—२।१३-१४

(८) इस तरह मर्यादापूर्वक मैंने प्रत्याख्यान किया है। कन्या की तरह ही मुझे पुरुष के विषय में भी अयथार्थ बात कहने का प्रत्याख्यान है। —२।१५

(९) गाय भैंस आदि के विषय में भी दूध, ब्यावत आदि को लेकर अनेक झूठ हो सकते हैं। इन सब के विषय में जैसा हो वैसा ही कहने का मुझे नियम है। —२।१६

(१०) घर, दुकान, खेत आदि के माप आदि को लेकर अनेक प्रकार का भू अलीक होता है। इस झूठ की भी मुझे उपर्युक्त मर्यादा है। —२।१७

(११) मेरे व्रत है कि यदि कोई आकर मुझे रखने के लिए धनादि सौंपेगा तो मांगने पर इन्कार नहीं करूँगा। —२।१८

(१२) यदि स्वयं धन-स्वामी आकर मांगेगा या बाप, भाई, या माँ आकर माँगे या पावनदार आकर बैठ जाय और राज दरबार की ओर से रुकावट हो तो उस समय झूठ नहीं बोलूँगा कि मुझे रखने के लिए धनादि नहीं दिया। —२।१९

(१३) मैं दोषों को टालता हुआ अनुरागपूर्वक व्रत का अच्छी तरह पालन करूँगा। —२।२०

(१४) यदि उपरोक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य कोई आकर धन मांगेगा तो उसे नट जाऊगा। मेरा मन लोभ में है इसलिए दूसरे व्यक्ति को इन्कार करने का सौगन्ध नहीं है। —२।२१

(१५) यदि कोई मेरी गवाही दिरायगा तो ऐसी स्थूल झूठ नहीं बोलूँगा जिससे कि किसी का घर नष्ट हो जाय। ऐसे प्रसंग पर भापा टाल कर बोलूँगा। सूक्ष्म झूठ की बात दूर है।" —२।२२-२३

(१६) इस प्रकार झूठ के भेद कर, उमंगपूर्वक झूठ के त्याग करना चाहिए। तथा अपना मनोरथ उसी समय फलीभूत

हुआ समझना चाहिए जब कि सूक्ष्म झूठ की अव्रत भी दूर हो।

(१७) इच्छानुसार करण योगपूर्वक झूठ न बोलने का नियम करना चाहिए। जैसा निभ सके वैसा ही व्रत करना चाहिये।

व्रत के दूषण

(१८) स्थूल झूठ का त्यागी गृहस्थ निम्नलिखित कार्यों का सेवन न करे:—

(१) सहसाभ्याख्यान : बिना विचार किये ही किसी के सिर दोष मढ़ना, जैसे तुम चोर हो; (२) रहस्याभ्याख्यान : रहस्य—गुप्त बात को प्रगट करना; (३) स्वदार मंत्र भेद : स्त्री की गुप्त या मार्मिक बात प्रगट करना; (४) मृषोपदेश : असत्य उपदेश देना, खोटी सलाह देना; (५) कूटलेख : झूठे लेख (दस्तावेज) लिखना।

—अ० १

(३) अदत्तादान विरमण व्रत

व्रत निरूपण

(१) (गुरु बोले)— श्रावक के तीसरे व्रत में मन में संतोष लाकर तथा भावों को वैराग्य की ओर चढ़ाते हुए स्थूल अदत्त का (बिना दी हुई वस्तु का) त्याग करना होता है। —१ शां० १

(२) इस व्रत के धारण करने से इस लोक में बहुत यश की प्राप्ति होती है तथा परलोक में सुख मिलता है। भाव पूर्वक इसकी आराधना करने से जन्म मरण मिट जाता है। —१ शां० २

(३) जो मनुष्य चोरी करता है वह अपने जीवन को यों ही खो देता है, वह मिनख (मनुष्य) भव को खो कर नर्क में मार खाता है। —३।दो० ३

(४) स्थूल (मोटी–बड़ी) और सूक्ष्म (छोटी)—इन दो प्रकार की अदत्त ग्रहण न करने का यथा शक्ति नियम करना यह तीसरा व्रत है। —३।१

व्रत धारण

(५) (शिष्य :) "हे स्वामी! मैं गृहस्थ हूँ। मेरे घास तथा लकड़ी आदि घरेलू वस्तुओं का काम पड़ता रहता है। मैं बारबार किसे कहूँ और किससे आज्ञा लूँ इसलिए सूक्ष्म अदत्त का त्याग मुझसे किस प्रकार बन सकता है? —३।२

(६) जो गृहस्थ सूक्ष्म अदत्त का त्याग करता है, वह धन्य है परन्तु ऐसे त्याग करने का मेरा मन नहीं है। मेरे बहुत कर्मों का उदय है इसलिए मेरा मन ठीक नहीं है। —३।३

(७) सेंध मार कर, गांठ खोल कर, धाड़ा (डाका) मार कर, ताला तोड़ कर तथा मालिक होने की बात को जानते हुए किसी बड़ी वस्तु को बिना मालिक के दिए लेने का प्रत्याख्यान वैराग्यपूर्वक करता हूँ। —३।८-५

(८) यह त्याग पराई चीजों के सम्बन्ध में लिया है। अपने घर की चीजों के सम्बन्ध में नहीं। मेरे कुटुम्बियों के पास धन हो और मैं बुरी हालत में होऊँ, बहुत तकलीफ आ पड़े, घर में धन न रहे और वे मुझे धन न दें तब मैं ताला तोड़

सकूंगा, गांठ खोल कर, संध लगा कर तथा यत्नपूर्वक छीन कर उनसे धन ले सकूंगा—इन सबकी मुझे छूट है। मैं जानता हूं कि यह सब दुर्गति के कारण है, परन्तु मैं स्त्री आदि के मोह में पड़ा हुआ हूं—गृहस्थाश्रम की जंजीरों में जकड़ा हुआ हूं। इसलिए मैंने ये आगार रखे हैं। —३।६-८

चोरी के दोष

(९) जिस चोरी के करने से राजा दण्ड देता हो और दुनिया में बदनामी होती हो वैसी बड़ी चोरी नहीं करूंगा। हे मुनिराय ! इस प्रकार चोरी त्याग का व्रत मुझे जीवन पर्यन्त के लिए पचखवा दीजिए।' —३।९-१०

(१०) (गुरु :) 'चोरी महा चाण्डाल कर्म है इससे बड़े बुरे हवाल होते हैं। इससे नर्क के अति भयानक दुःख सहने पड़ते हैं।
—३।११-१२

(११) जो परधन की चोरी करता है वह दाह लगाने के समान कार्य करता है। वह अवश्य ही नर्क का अतिथि है तथा न्यात (जाति) को लज्जित करनेवाला है। —३।१३

(१२) यदि चोरी के पाप इसी भव में उदय होते है तो अपने आप ही उसे महान दुःख भोगने पड़ते हैं—गहरी मार खानी पड़ती है तथा बेमौत मरना पड़ता है। —३।१४

(१३) उसके हाथ पांव काट लिए जाते हैं, उसे सूली पर चढ़ा दिया जाता है, उसके नाक, कान काट कर नकटा-बूचा कर दिया जाता है तथा उसे बहुत पीटा जाता है। —३।१५

(१४) मार कर चोर के शरीर को खाई में डाल दिया जाता है, जहाँ कुत्ते आकर उसकी लाश को बिगाड़ते हैं। —३।११६

(१५) तथा कौए चोंच मार कर उसकी आँखें बाहर निकाल लेते हैं तथा उसका शरीर महा विकराल दिखने लगता है। —३।११७

(१६) यह सब देख कर माता-पिता को बड़ा दुःख होता है। वे कहते हैं 'इस नीच ने चोरी कर हम लोगों को नीचा दिखाया'। ३।११८

(१७) जब लोगों को चोर की बातें करते हुए सुनते हैं तो उस चोर के माता-पिता केवल रोते हैं और नीचे की ओर ताका करते हैं। —३।११९

(१८) चोरी से जीव को अनेक दुःख होते हैं, कहने से उनका पार नहीं आता। यह चोरी का पाप चारों गति में भ्रमण कराने वाला है। —३।१२०

(१९) ये भव्य स्त्री-पुरुषो ! यह सब सुन कर चोरी मत करो। सबूरी लाकर चोरी का त्याग करो। —३।१२१

व्रत-भंग का दोष

(२०) कई मनुष्य तो ऐसे हैं जो वैराग्य लाकर तथा मन में संतोष लाकर तीन करण तीन योग पूर्वक सर्व चोरी का त्याग कर देते हैं। और कई ऐसे सौगन्ध लेकर उसको भङ्ग कर देते हैं। व्रत लेकर भङ्ग करने वाले के बुरे हवाल होंगे। वह महा पापी है। कर्मों ने उसे धक्का दिया है। —३।१२२-२३

(२१) जो सौगन्ध को अच्छी तरह पालन करता है उसके मन की साध पूरी होती है। सौगन्ध को सम्यक् रूप से पालन कर कई देवलोक में जायंगे और कई मोक्ष में जायंगे। —१।२४

व्रत के दूषण

(२२) स्थूल चोरी के त्यागी गृहस्थ को निम्नलिखित दोषकारी प्रवृत्तियाँ नहीं करनी चाहिये, केवल उन्हें ध्यान में रखना चाहिए :—

(१) चोरी का माल ग्रहण करना; (२) चोर को सहायता करना—जिस तरह चोरी का उपाय बतलाना या उसके लिए प्रेरणा करना, या चोर को आश्रय देना; (३) चूंगी आदि महसूल दिये बिना किसी चीज को छिपा कर लाना, ले जाना या मनाही किए जाने पर भी दूसरे देश में जाकर राज्य विरुद्ध हलचल करना; (४) तराजू बाट आदि सही-सही नहीं रखना, छोटे बड़े नाप रखना; (५) एक वस्तु में अन्य सदृश या मिल सकने वाली वस्तु मिला कर उसका व्यापार करना या अच्छा नमूना दिखा कर घटिया चीज देना; उदाहरण स्वरूप घी में चर्बी या वनस्पति घी मिलाना, आटे में चिकना पत्थर मिलाना, दूध में जल मिलाना, पाट में पानी मिलाना, या सोने चांदी में खार मिलाना।'

—भ० १५-१२

(४) स्वदार संतोष व्रत

(१) (गुरु :) 'जो मनुष्य-भव पाकर, शील—ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह नर-भव को कृतार्थ करता हुआ शीघ्र ही

मोक्षरूपी रमणी को वर कर अनन्त अक्षय मोक्ष-सुखों में लीला करता है। —४। दो॰ १

स्वरूप कथन

(२) साधु मैथुन का सर्वथा त्याग करता है और गृहाचारी पर नारी का। जो पर नारी को बुरी दृष्टि से नहीं देखता उस गृहस्थ का शीघ्र खेवा पार समझो। —४। दो॰ २

(३) कोई-कोई अहोभागी श्रावक तीव्र वैराग्य लाकर, विषयों से इन्द्रियों को खींच कर, तथा मन में अपूर्व समभाव लाकर अपनी विवाहित पत्नी के साथ भी विषय-सेवन का सर्व त्याग कर देता है। —४। दो॰ ३

(४) श्रावक के चौथे व्रत में अब्रह्मचर्य का यथाशक्य प्रत्याख्यान करना होता है। इसमें देव-देवी, पराए पुरुष-स्त्री, तथा नर मादा पशु-पक्षी के साथ सर्वथा मैथुन का त्याग करना होता है। —४।१

(५) अपनी—स्व विवाहित स्त्री के साथ भी संयमपूर्वक रहने का विचार करे। उसके साथ दिन में भोग सेवन का त्याग करे और रात में इसकी अधिक-से-अधिक मर्यादा करे। —४।२

(६) चौदश, आठम, अमावस तथा पूनम आदि तिथियों के दिन ब्रह्मचर्य पालन का नियम करे। इस प्रकार आत्मा को दमन करता हुआ मोह को दूर कर शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करे। —४।३

(७) कोई-कोई अहोभागी श्रावक तीव्र वैराग्य लाक विषयों से इन्द्रियों को खींच कर, तथा मन में अपूर्व समभा लाकर अपनी विवाहित पत्नी के साथ भी विषय-सेवन क सर्व त्याग कर देता है।' —४।८

व्रत ग्रहण

(८) (शिष्य:) "मुझे अपनी पत्नी से प्रेम है, मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूँ। मेरी आत्मा मेरे वश नहीं है और मेरे बहुत कर्म का उदय है इसलिये अभी तो मैं दिन में स्व स्त्री-सेवन का त्याग करता हूँ तथा रात्रि में मैथुन-सेवन की मर्यादा बांधता हूँ। इस मर्यादा में सन्तोष कर इसके उपरान्त विषय-सेवन का परिहार करता हूँ। पर नारी—अपनी स्त्री को छोड़ अन्य नारी—से मैं सूई डोरे के न्याय से प्रेम नहीं करूँगा—यह मैं नियम करता हूँ।' —४।५-७

ब्रह्मचर्य की महिमा

(९) जो पर स्त्री का सेवन करते हैं वे नर जन्म को यों ही गमा कर अविलम्ब नर्क में गिरते हैं। —५।८

(१०) यह चौथा व्रत अत्यन्त श्रेष्ठ है, सर्व व्रतों में प्रधान और अग्रसर है। यह मोक्ष को देनेवाला है। —६।९

(११) शील व्रत—ब्रह्मचर्य व्रत एक अमोल रत्न है, इसकी रक्षा का निरन्तर यत्न करना चाहिए। जो ऐसा करता है वह आत्मा का उद्धार करता है और मोक्ष-रूपी रमणी को वरता है। —६।१०

(१२) जिन भगवान ने स्वयं कहा है कि जो ब्रह्मचर्य व्रत को निर्दोष रूप से पालन करता है उसके लिए मोक्ष बहुत नजदीक होता है, इसमें शंका की बात नहीं है। —४।११

(१३) चारों जाति के देव ब्रह्मचारी की सेवा करते हैं उसके सामने सिर झुका गुणग्राम करते हुए वंदना करते हैं। —४।१२

व्रत-भंग एक महा दोष

(१४) जो चौथे व्रत को स्वीकार कर उसका भङ्ग कर देता है उसे नाना सांग—जन्मान्तर—धारण करने पड़ते हैं। वह नर्क को प्राप्त होता है और उसे अनेक तरह से कष्ट पाना पड़ता है।—४।१३

(१५) वह इस लोग में फिट-फिट होता है—धिक्कारा जाता है तथा परलोग में उसकी दुर्गति होती है। उसका जन्म बिगड़ा और मानव भव व्यर्थ गया समझो। —४।१४

(१६) जो जातिवान और कुलवान होते हैं वे रोज-रोज आत्मा को दमन करते जाते हैं; लिए हुए व्रत की अखण्ड उपासना करते हुए वे अपने कुल को उज्ज्वल करते हैं। —४।१५

(१७) जो जातिवान और कुलवान नहीं होते वे स्वादों में अत्यन्त आसक्त हुए—विषयों में फँसे—व्रत को भंग कर देते हैं। जो निर्लज्ज--विषय विकार में डूबे हुए व्रत को भंग करते हैं वे बड़े पापी हैं।— ४।१६-१७

(१८) जो ब्रह्मचर्य व्रत के विराधक हैं उनके नर भव पाने को धिक्कार है। वे जाति का मुख नीचा करने वाले और दुर्गति के मेहमान हैं। —४।१८

(१९) व्रत भंग करना—यह बहुत बड़ी खामी—अपराध है। व्रतभंग करने वाला लोगों में ऊँचा सिर कर नहीं बोल सकता। —४।१९

(२०) जो लज्जावान होते हैं वे ही इस बड़े दुष्कृत्य को करते हुए शर्माते हैं। लज्जाहीन को इस मोटे अकृत्य में शर्म नहीं मालूम देती। —४।२०

(२१) जो शील व्रत भंग करता है उसकी कहावत नहीं मिटती। ऐसा आदमी जब तक जीता है उसकी कहावत चलती है। —४।२१

(२२) लोग कहते हैं कि 'इस पापी ने अकार्य किया फिर भी इसे लज्जा नहीं आती! यह कितना निर्लज्ज है कि ऐसा दुष्कर्म करने पर भी गाज-गाज कर बोलता है!' —४।२२

(२३) जो ब्रह्मचर्य व्रत से गिर चुका, उसकी संगति कभी भी मत करो—उसे कुकर्मों में लिप्त और कर्म रूपी कीचड़ में फंसा हुआ समझो। —४।२३

(२४) जो पर नारी का सेवन करते हैं, वे मनुष्य भव को हारते हैं वे मिथ्यात्व में डूबते हैं और न्यात को लज्जित करते हैं। —४।२४

(२५) जिसने शुद्ध चित्त पूर्वक, पर नारी को मा-बहिन समान समझ कर, उसके प्रति बुरे भाव न लाने का ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया है, यदि वह लज्जा और शर्म को छोड़ पर नारी के साथ दुष्कर्म करे तो उसे लोक में वाकी कहा जायगा। —४।१५-१६

(२६) कर्म संयोग से यदि व्रत भंग हो जाता है तो कई विचारवान उसके लिए लज्जित होते हैं परन्तु कई तो ऐसे वेशर्म होते हैं कि उन्हें जरा भी लज्जा का बोध नहीं होता। —४।२७

(२७) विचारवान को व्रत भंग का अत्यन्त पश्चात्ताप होता है और वह अपने दुष्कृत्य को अन्याय समझता है। —४।२८

(२८) जिसने शीलव्रत भङ्ग कर दिया है उसको पूरा अभागा समझो। ऐसा मनुष्य नंगा और निर्लज्ज है, उसमें किसी तरह का मज्जा नहीं समझना चाहिए। —४।२९

(२९) इसलिए ब्रह्मचर्य को नववाड़ सहित, निरतिचार पूर्वक, दृढ़ और अडिग रह कर तथा मन आदि योग के पूर्ण संयम के साथ पालन करना चाहिये। —४।३०

(३०) जो नववाड़ को लोप देता है उसके बहुत हानि होती है। ब्रह्मचर्य व्रत के भग से बहुत खराबी होती है। —४।३१

(३१) जो व्रत भग कर परनारी का सेवन करता है वह मनुष्य जन्म को गमाता है। उसकी बहुत अपकीर्त्ति होती है और वह बहुत धिक्कारा जाता है। —४।३२

शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन की प्रेरणा

(३२) जो शुद्ध मन से शील—ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह मुक्ति के अनन्त सहज सुख में लीला करता है। जो ब्रह्मचर्य में विश्वास रखता है उसे शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है। —४।३३

(३३) दिन-दिन चढ़ते हुए भावों से ब्रह्मचर्य व्रत का अखण्ड रूप से पालन करो। मनोयोग पूर्वक इन्द्रियों के विषयों में समभाव को धारण करो जिससे कि शीघ्र ही शिव-वधू को वर सको। —४।३४

(३४) दसवें अंग में भगवान ने ब्रह्मचर्य व्रत के लिए बत्तीस उपमाएँ दी हैं। जो धर्म में शूर हैं वे ब्रह्मचर्य व्रत का सही-सही पालन करते हैं। —४।३५

(३५) तीन करण, तीन योग को अच्छी तरह जान कर तथा उनका शुद्ध ब्यौरा पहचान कर, व्रत अंगीकार कर उसका मन से पालन करना तथा दोषों को टालते रहना। —४।३६

व्रत के अतिचार

(३६) स्थूल ब्रह्मचर्य व्रतधारी गृहस्थ के लिये निम्नलिखित कार्य अतिचार हैं अतः अकार्य हैं। इन्हें सदा ध्यान में रखते हुए इनसे बचना चाहिए :—

(१) अपनी पत्नी के सिवा किसी भी स्त्री से रमण करना फिर चाहे वह वेश्या ही क्यों न हो और चाहे पैसा देकर उसे थोड़े काल के लिए रखेल के रूप में ही क्यों न रख लिया हो; (२) अपनी पत्नी के सिवा किसी भी स्त्री से विषय-सेवन करना चाहे वह स्त्री किसी की पत्नी न हो या किसी के आधिपत्य में न हो जिस तरह कवांरी कन्या, विधवा या अनाथ कुलांगना; (३) अनंग क्रीड़ा करना अर्थात् सृष्टि विरुद्ध काम-क्रीड़ा करना; या अपनी

स्त्री के सिवा अन्य स्त्रियों से रमण तो न करना परन्तु अन्य काम-क्रीड़ाएँ करना; या प्रत्याख्यान के दिन स्वस्त्री से अप्राकृतिक मैथुन करना; (४) पराये विवाह कराना; और (५) काम सेवन में तीव्र अभिलाषा रखना। —अ० १३-१५

(५) परिग्रह परिमाण व्रत

परिग्रह त्याग की आवश्यकता तथा परिग्रह की परिभाषा

(१) (गुरु:)—श्रावक के पांचवें व्रत में परिग्रह का यथाशक्ति त्याग किया जाता है। परिग्रह मूर्छा को कहते हैं। इससे जीव के निरन्तर पाप-कर्मों का प्रवाह होता है।—५। दो० १

(२) परिग्रह मोटा—बहुत बड़ा पाप है। इससे जीव को संसार-समुद्र में गोते खाने पड़ते हैं। इसमें किसी प्रकार का संशय हो तो भगवान द्वारा बतलाये गये 'श्रावक के तीन मनोरथ' देख लो। ५। दो० २

(३) भगवान ने परिग्रह को सर्व अनर्थों का मूल कहा है। परिग्रह जीव को खींच कर नर्क में डाल देता है। परिग्रह यति-मार्ग को भङ्ग करनेवाला है इसलिए भगवान ने इसका निषेध किया है। —५। दो० ३

(४) खेत—खुली भूमि, घर, दूकान, सोना-चांदी धन-धान्य, द्विपद-चौपद तथा ताम्बादि धातु—इन नौ प्रकार की वस्तुओं का यथाशक्ति परिमाण करना चाहिए। —५। दो० ४-९

(५) उपरोक्त जड़ चेतन वस्तुओं को जो एक हद—परिमाण में रखा जाता है यह अविरति—असंयम है। उस परिमाण में रखी हुई परिमिति वस्तुओं के उपरान्त शेष सब वस्तुओं का जो त्याग प्रत्याख्यान होता है वह विरति है।

—५। दो० ६

(६) मूर्च्छा परिग्रह है। धन-धान्य, घर-खेत, चाँदी-सोना, द्विपद-चउपद तथा ताम्बादि धातु—इन नौ प्रकार की जड़-चेतन वस्तुओं को मूर्च्छा—ममतापूर्वक ग्रहण किया जाता है अतः ये सब भी परिग्रह हैं। मूर्च्छा आभ्यन्तर परिग्रह और ये नौ द्रव्य बाह्य परिग्रह कहलाते हैं। —५। दो० ७-८

(७) उपरोक्त नव प्रकार के बाह्य परिग्रह का श्रावक विचारपूर्वक यथाशक्ति परिहार—परिमाण करे तथा हृदय में समता—सन्तोष लाकर इन सब के प्रति मूर्च्छा—तृष्णा का परिहार करे तथा उनकी कामना को दूर कर दे। —५।१-२

परिग्रह महान दोष

(८) मूर्च्छा—ममता बुरी बलाय है। इससे प्राणी चारों गति में भटकता है। मूर्च्छा में फँसे हुए प्राणी को चैन नहीं पड़ता—उसे बहुत रड़बड़ना पड़ता है। —५।३

(९) मूर्च्छा नर्क को पहुँचाने वाली है—यह विचार कर मूर्च्छा को दूर कर व्रत पालन करने का निश्चय करो।

—५।४

(१०) नव प्रकार के जो उपरोक्त परिग्रह हैं उनका तथा उनके प्रति मूर्छा भाव को मुक्ति मार्ग में बाधा स्वरूप समझ कर उनका परिहार करना चाहिए। —५।५

(११) परिग्रह मुमुक्षु के लिए बहुत बड़ा प्रतिबंध और पाश है। यह बोध-बीज सम्यक्त्व को नाश करनेवाला है। परिग्रह रखना मुक्ति का नहीं परन्तु दुर्गति का मार्ग है। —५।६

(१२) परिग्रह बहुत बड़ा फन्द है। इससे कर्मों का निरन्तर बंध होता है। यह जीव को बलपूर्वक नर्क में ले जाता है जहाँ नाना प्रकार की भयानक मार पड़ती है। —५।७

(१३) परिग्रह महा भयानक और विकट मायाजाल है। उसमें रक्त होने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती यह बिलकुल सही बात है। —५।८

परिग्रह सेवन करना बुरा और सेवन कराना तथा अनुमोदन करना भी बुरा

(१४) परिग्रह रखने या सेवन करने से नए कर्मों का प्रवेश होता है फिर जो परिग्रह रखाता या सेवन कराता है या रखने वाले या सेवन करने वाले की अनुमोदना करता है उसको धर्म किस न्याय से होगा ? बुद्धिमान इस बात की जाँच करें कि भगवान ने करना, कराना और अनुमोदन करना, इन तीनों करणों को समान रूप से कर्म संचार का हेतु बतलाया है। —५।१३

(१५) कनक और कामिनी इन दो के सेवन से दुर्गति होती है। ये दोनों भयानक फन्द हैं। इनके सेवन से चारों गतियों में धक्के खाने पड़ते हैं। —५।९

(१६) जो दूसरे को कनक और कामिनी सेवन करा है वह उसको फन्द में डालता है जिससे निकला नहीं सकता। —५।१०

(१७) जो परिग्रह देने में धर्म बतलाते हैं वे अज्ञानी भ्र भूले हुए हैं। उनके कर्मों का विशेष उदय है जिससे कि यह समझ में नहीं आती। —५।११

(१८) जो परिग्रह के दलाल हैं अर्थात् परिग्रह को एक पास से दूसरे को दिलाते हैं उनके भी पूरे हवाले होंगे और उ नरकों के बहुत दुःख भुगतने पड़ेंगे। —५।१३

(१९) परिग्रह के देनेवालों के सावद्य योगों का प्रव होता है। परिग्रह का देना कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है लौकिक-व्यवहार या कर्तव्य कह सकते हैं।५।१४

(२०) अन्न, पान, मेवा-मुखवास इन चारों प्रकार आहारों में जो आहार श्रावक करता है उसका उसके परि है। इनके सेवन करने में या अन्य गृहस्थ को सेवन करने के लि देने में धर्म नहीं है। —५।१५

(२१) गृहस्थों का परस्पर में एक दूसरे को कोई चीज देन लेना है, वह सब परिग्रह ही देना-लेना है इसमें जरा भी शं मत करो। —५।१६

(२२) अपने पास रखे हुए सचित्त, अचित्त या मिश्र स वस्तुओं में गृहस्थ की ममता होने से वे परिग्रह हैं ऐसा उववा तथा सूत्रकृतांग सूत्र में कहा है। —५।१७-१८

(२३) परिमित वस्तुओं के उपरांत अवशेष का जो त्याग किया जाता है उसे व्रत जानो तथा जो परिमित वस्तुएँ रखी गयी हैं वे सब अव्रत में रहीं—उनकी छूट रही। इस बात का सूत्र साक्षी है। —५१९

(२४) यदि धन आदि परिग्रह देने में ही धर्म होता तब तो भगवान इस बात की आज्ञा दे जाते तथा कह-कह कर दिराते और धर्म करवाते। —५२०

(२५) धन से अनर्थ होता है, धन से धर्म की धुरा नहीं चलती, यह भव-भव भ्रमण करानेवाला है—दुर्गति को पहुँचाने वाला है।—५२१

(२६) धन रखने से या देने या दिलवाने से तीनों ही काल में धर्म नहीं होता—इस बात को सत्य समझो तथा इसमें जरा भी शंका मत लावो। ५२२

परिग्रह के दोषों का पुनर्कथन

(२७) जो परिग्रह में मूर्च्छावान होते हैं उनको सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता। पदार्थों में आसक्ति—मूर्च्छा होने से उनको कोई समझ नहीं पड़ती। —५२३

(२८) जो परिग्रह में आसक्त हैं उनकी बहुत फजीहत होगी। वे नर्क में जाएंगे और झोका खाते रहेंगे। —५२४

(२९) परिग्रह से केवल संसार की वृद्धि होती है। नर्क

करने का प्रत्याख्यान किया जाता है और केवल प्रयो
पाप की छूट रह जाती है। —६। ढो० ४

दिशि व्रत का स्वरूप

(५) श्रावक के छठे व्रत में छहों दिशाओं का प
करना पड़ता है तथा मर्यादित क्षेत्रों के उपरान्त हिंसा
को संतोषपूर्वक छोड़ देना पड़ता है। —६। ढो० ५

(६) ऊँची-नीची और तिरछी दिशाओं में दो च
आदि कोसों की संख्या कर श्रावक मर्यादित क्षेत्र के
सावद्य कार्यों का परिहार करे। —६। १

(७) पृथ्वी आदि स्थावर जीवों की हिंसा का भी
के बाहर त्याग करे तथा सूक्ष्म झूठ, चोरी, मैथुन औ
—ममता का त्याग करे। — ६।२

(८) क्षेत्र के बाहर लेन-देन न करे, न बाहर
भीतर मंगावे और न भीतर की वस्तु बाहर भेजे। -

(९) कम में कोई एक आश्रव का त्याग करत
ऊपर में पाँचों आश्रवों का त्याग करता है। को
एक करण तीन योग से करता है, कोई दो करण त
और कोई तीन करण तीन योग से बाहर के आश्र
अविरति को दूर करता है। —६।४-५

(१०) इस तरह क्षेत्र बाहर जो सूक्ष्म हिंसा
का त्याग कर अविरति को दूर किया जाता है व

—रुपया, वस्त्रादि, धान्य—अन्न रखने का नियम किया हो से अधिक रखना; (५) तांबा पीतल आदि के बासन-बर्त्तन या शयन-आसन आदि घर सामान नियमित परिमाण से अधिक रखना।

(६) दिग्व्रत

गुणव्रतों की आवश्यकता और संक्षिप्त स्वरूप निर्देश

(१) (गुरु:) पांच अणुव्रतों के धारण करते ही स्थूल हिंसादि पापों से विरति रूप बड़ी पाल बांध दी जाती है फिर भी सूक्ष्म हिंसादि पापों से अविरति रहने से कर्म रूपी जल थोड़ा-थोड़ा आता रहता है। —६। टी॰ १

(२) इस अविरति को मिटाने के लिए पहिले गुणव्रत का विधान है। इस गुणव्रत में दिशि मर्यादा कर, उसके बाहर सूक्ष्म पापों से विशेष रूप से निवृत्त हुआ जाता है। —६। टी॰ २

(३) मर्यादा कृत क्षेत्र में जो सूक्ष्म अविरति रह जाती है उसको मिटाने के लिए दूसरा गुणव्रत धारण करना होता है। इस गुणव्रत में द्रव्यादिक का त्याग और भोगादिक का परिहार करना पड़ता है। —६। टी॰ ३

(४) मर्यादित क्षेत्र में जो मर्यादित वस्तुओं के सेवन की छूट रख ली जाती है वह अविरति है। इस अविरति को संक्षिप्त करने के लिए अनर्थदण्ड त्याग अर्थात् बिना प्रयोजन पाप कर्म

कर्मों का प्रत्याख्यान किया जाता है और केवल प्रयोजन में पाप की छूट रह जाती है। —४। ९०

दिशि व्रत का स्वरूप

(५) श्रावक के छट्ठे व्रत में छहों दिशाओं का परिमाण करना पड़ता है तथा मर्यादित क्षेत्रों के उपरान्त हिंसादि पापों को संतोषपूर्वक छोड़ देना पड़ता है। —५। दो० ५

(६) ऊँची-नीची और तिरछी दिशाओं में दो चार पाँच आदि कोसों की संख्या कर श्रावक मर्यादित क्षेत्र के बाहर सावद्य कार्यों का परिहार करे। —६। १

(७) पृथ्वी आदि स्थावर जीवों की हिंसा का भी इस क्षेत्र के बाहर त्याग करे तथा सूक्ष्म झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह —ममता का त्याग करे। —६।२

(८) क्षेत्र के बाहर लेन-देन न करे, न बाहर की वस्तु भीतर मंगावे और न भीतर की वस्तु बाहर भेजे। —६।३

(९) कम में कोई एक आश्रव का त्याग करता है और ऊपर में पाँचों आश्रवों का त्याग करता है। कोई यह त्याग एक करण तीन योग से करता है, कोई दो करण तीन योग से और कोई तीन करण तीन योग से बाहर के आश्रव का त्याग कर अविरति को दूर करता है। —६।४-५

(१०) इस तरह क्षेत्र बाहर जो सूक्ष्म हिंसादि आश्रवों का त्याग कर अविरति को [illegible] किया जा[illegible] मर्यादित

क्षेत्र के बाहर सब क्षेत्रों में तथा काल की अपेक्षा यावज्जीवन के लिए होता है। —६।६

(११) कोई क्षेत्र बाहर इन आश्रवों के सेवन का इतनी दृढ़ता के साथ त्याग करता है कि देवादिकों के कारण यदि वह क्षेत्र बाहर भी ले जाया जाय तो भी आश्रव सेवन नहीं करता परन्तु कोई-कोई कष्ट पड़ने पर क्षेत्र बाहर आश्रव सेवन की छूट रख लेता है। यह निजी कमजोरी है। —६।७

(१२) कोई मर्यादित क्षेत्र के बाहर अपने मित्र या देवता आदि से काम कराता है परन्तु व्रत ग्रहण करते समय यह छूट रख लेनी पड़ती है।—६।८

(१३) जो छूट रखनी हो वह रख कर ही प्रत्याख्यान करना चाहिए। बिना छूट का कार्य न करे। छूट रखने से पाप लगता है परन्तु छूट रखे बिना क्षेत्र बाहर कार्य करने से व्रत भंग होता है। —६।९

(१४) छठे व्रत का बहुत विस्तार है उसका पार नहीं है। मैंने संक्षेप में कहा है। बुद्धिमान इसी अनुसार और समझे।

—६।१०

(१५) छठे व्रत में उपरोक्त रूप से प्रत्याख्यान किया जाता है। मर्यादित क्षेत्र में जो बहुत से द्रव्य रहते हैं उनकी अव्रत को दूर करने के लिए जिन भगवान ने सातवें व्रत का विधान किया है। —६।११

व्रत के दोष

दिशि मर्यादा व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं :—

(१) ऊँची दिशा में जितनी दूर जाने का नियम किया हो उससे अधिक दूर चले जाना; (२) नीची दिशा में जितनी दूर जाने का नियम किया हो उससे अधिक दूर चले जाना; (३) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि तिरछी दिशाओं में जितनी दूर जाने का नियम किया हो उससे अधिक चले जाना; (४) क्षेत्र वृद्धि करना –अर्थात् नियत किए हुए क्षेत्र के माप में वृद्धि करना; एक दिशा के परिमाण को कम कर दूसरी दिशा के परिमाण को बढ़ा लेना; (५) दिशाओं में जाने के लिए जितना क्षेत्र नियत रखा हो उसे भुला देना। अ० १७

(७) उपभोग परिभोग परिमाण व्रत

(क)

(१) (गुरु:) श्रावक के सातवें व्रत में उपभोग परिभोग वस्तुओं का भरसक त्याग करना होता है। जो प्रिय वस्तु का त्याग करता है उसके घट में सच्चा वैराग्य आता है। —७ दो० १

(२) जो चीज केवल एक ही बार काम में आ सकती है—उसे 'भोग' या 'परिभोग' कहते हैं और जो वस्तु बार-बार सेवन में आ सकती है उसको उपभोग कहते हैं। —७ दो० २

(३) भगवान ने कहा है कि संसारी प्राणी के भोग से सहज अविरति रहती है। सद्गुरु के सम्मुख उपभोग परिभोग वस्तुओं

का यथाशक्ति, नियमपूर्वक त्याग करना सातवाँ व्रत है।
—७। दो ३

(४) उपभोग परिभोग वस्तुओं का सेवन— शब्द, रूप तथा गन्ध, रस और स्पर्श की आसक्ति अर्थात् काम भोग रूप है। कामभोग का सेवन महा दुःखों की खान है! भगवान वर्द्धमान ने इन काम भोगों के सेवन को किंपाक फल की उपमा दी है।—७.दो० ४

(५) श्रावक अंगोछा, दातन, अरेठे आदि फल, तेल, उबटन, मंजन, वस्त्र, विलेपन, पुष्प, आभूषण, धूप, पेय, पक्वान, ओदन, सूप, विगइ, शाक, माधुरक, व्यंजन, जल, मुखवास, वाहन, शय्या, जूते, सचित्त वस्तुएँ तथा अन्य द्रव्य—इन छब्बीस भोग परिभोग की वस्तुओं का परिमाण या संख्या कर उनके भोग की मर्यादा करे। —७।५-६

(६) जो समता धारण कर विषयों में निस्पृह हो इन छब्बीस वस्तुओं के सेवन की मर्यादा या त्याग करता है वह धन्य है। श्रावक एक-एक बात का खुलासा कर यथाशक्य करण योगों से व्रत अङ्गीकार करता है। —६।३

(७) उपरोक्त विधि या वस्तुओं के सेवन से संताप होता है, सेवन कराने से भी संताप होता है फिर अनुमोदन करने से धर्म कहाँ से होगा? करना, कराना और अनुमोदन करना इन तीनों करणों के समान फल है। —६।४

(८) श्रावक उपरोक्त विधि या वस्तुओं का प्रत्याख्यान आगार (छूट) पूर्वक करता है। ये आगार (छूट) अव्रत है

जो आश्रव— कर्म संचार का कारण है। इन आगारों में कई प्रकार के उपभोग परिभोग का सेवन रहता है। उपभोग परिभोग वस्तुओं का सेवन करना सावद्य योग-व्यापार है।

—६।७

(९) श्रावक इन उपभोग-परिभोगों का समतापूर्वक यथाशक्ति प्रत्याख्यान करे। जब इनका त्याग एक करण तीन योग से किया होता है तब खुद भोगने का पाप नहीं लगता अर्थात् दूर हो जाता है। —६।८

(१०) जो दो करण तीन योग से त्याग करता है वह छः भांगों के पाप को दूर करता है। वह न खुद सेवन करता है और न कराता है। —६।९

(११) जो तीन करण तीन योग से त्याग करता है उसको नव ही भांगों का पाप नहीं लगता। वह न खुद भोग परिभोग की वस्तुओं का सेवन करता है, न कराता है और न करनेवाले का अनुमोदन करता है। —६।१०

(१२) जो जो सेरी छुटी रहती है, उससे पाप कर्म आ-आकर लगते रहते हैं। जो-जो सेरी रुकी होती है वह संवर है। उससे जरा [illegible] पाप नहीं आ सकते। —६।११

[illegible] में ही श्रावक खाता, खिलाता, या [illegible] हुई सेरी में खाता, खिलाता नहीं है और न [illegible] है। —६।१२

(१४) श्रावकों का, जीवों की हिंसा कर, परस्पर में एक दूसरे को जिमाना अव्रत है और सावद्य योग प्रवृत्ति है। इसमें धर्म समझना मिथ्यात्त्व है। —६।१३-१४

(१५) जो अमुक अंश में शब्द, रूप, रस, गंध, और स्पर्श के सेवन की छूट रखता है उसके उनकी वांछा रहने से उनका सेवन होता रहता है। उपभोग परिभोग सेवन में इन विषयों का विविधि संयोग है। —६।१७

(१६) जो अमुक अंश में उपभोग परिभोग वस्तुएँ रखी जाती हैं वह उतनी अविरति समझो। उससे निरन्तर पाप लगते रहते हैं। इस अविरति को प्रत्याख्यान—त्याग कर दूर करने से सुखदायी संवर होता है, जिससे अविरति से होने वाला पाप दूर हो जाता है। —६।१८

(१७) उपभोग परिभोग का जो सेवन करता है उसके पाप लगता है। जो सेवन कराता है उसके दूसरे करण से और जो अनुमोदन करता है वह तीसरे करण से पाप प्राप्त करता है। तीनों करणों से उपभोग परिभोग सेवन सावद्य कार्य है।

—६।१९-२०

(१८) उपभोग परिभोग वस्तु के खाने-पीने आदि रूप सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने का—इन तीनों का यथा शक्ति त्याग करने से ही सातवें व्रत की प्राप्ति होती है और नए कर्मों का आना रुकता है। कर्मों का रुकना ही उज्ज्वल (पावन) 'संवर' धर्म है। —६।२१

(१९) त्याग क्या है और आगार क्या है—यह पहचान कर, भोगों से अविरति में पाप जान कर उसे छोड़ो और विरति में धर्म समझ कर व्रत—प्रत्याख्यान करो। तीनों करणों को अलग-अलग विचार कर व्रत करो। —६।३९

(२०) भोग और परिभोगों के सेवन का त्याग कर मानव भव का लाभ उठाओ! जो वस्तुएँ आगार में—छूट में रख ली हों उनमें से योग्य वस्तुओं का निश्चय ही सत्पात्र को दान दो। इस धर्म के कार्य में ढील मत करो। सत्पुरुषों के चरणों की सेवा से वांछित कार्य सिद्ध होता है। —६।४०

(ख)

(२१) उपभोग परिभोग परिमाण नामक सातवें व्रत में भगवान ने पन्द्रह कर्मादानों का भी उपदेश दिया है।

१ ईंट पकाने, सुनार, ठठारे, भड़ भूँजे, कुम्हार, लोहार आदि के कर्म कर आजीविका चलाना यह अंगालि कर्म कहलाता है।

२ साग, पात, कंद-मूल, बीजादिक, धान-तंदूल, फूलादिक इन सब वन बगीचों में होनेवाली वनस्पतियों को बेच कर आजीविका करने को वन कर्म कहते हैं।

३ गाड़ी, रथ, चौकी, बाजोट, पलंग, किवाड़, थम्भे बना कर तथा बेच कर आजीविका करने को शकट कर्म हैं।

४ घर दुकान भाड़े पर देकर, रुपये व्याज पर देकर, तथा गाड़ी आदि भाड़े पर चला कर आजीविका चलाना भटक कर्म कहलाता है।

५ नारियल आदि को फोड़ने, अखरोट, सुपारी आदि के टुकड़े करने, पत्थर के टुकड़े कर धान को दलने पीसने आदि का कर्म कर आजीविका चलाना स्फोटक कम कहलाता है।

६ कस्तूरी, केवड़े, हाथी दांत, मोती, अगर, चर्म, हाड, सींग आदि के व्यापार को दन्त वाणिज्य कहा जाता है।

७ मनःशिल, आल, लाख, गली, हड़ताल, कसूवादिक अति दोषवाली चीजों का व्यापार करना लाक्षा वाणिज्य है।

८ मधु, मांस, मक्खन, मद्य आदि भारी विगड़ तथा दूध, दही, घी, तेल, गुड़ आदि का व्यापार करना रस वाणिज्य कहलाता है।

९ ऊंठ, गधे, बैल, गाय, घोडे, हाथी, भैंस बकरी आदि का वाणिज्य व्यापार तथा ऊन, रूई, रेशम आदि बना कर उनका व्यापार करना केश वाणिज्य कहलाता है।

१० सोंगी मोरा, अमल, आक, पोस्तडोड़ी, लीला थूता, सोमल खार, हरवशी, नरवशी आदि का वाणिज्य व्यापार करना विष वाणिज्य कहलाता है।

११ तिल, सरसों आदि पीलाने, ऊप पेरने आदि महा पापकारी कर्म को यन्त्र-पीलन कर्म कहते हैं।

१२ कान फाड़ना, नाक बींधाना तथा बलद प्रमुख को कशी कराना यह बारहवाँ निर्लाञ्छन कर्म कहलाता है। व्रतधारी को इससे दोष लगता है।

१३ गाँव, नगर आदि को अग्नि लगा कर जलाना, अटवी आदि में दव लगाना, मुर्दों के दव लगाना आदि को दवदान कर्म कहते हैं।

१४ नदी, सर, द्रह तालाब आदि को कूदने तथा किनारे को तोड़ कर खेत में उनके पानी आदि को सींचने को सरः शोषः कर्म कहते हैं।

१५ असंजती जीवों को चराने, खाने पिलाने के रोजगार से आजीविका करना असतीजन पोषण कर्म कहलाता है। साधु के सिवा सभी असंयती जीव हैं उनका पोषण जिस कर्म में हो वह असतीजन पोषण है।

(२२) इन पन्दरह कर्मादानों की मर्यादा कर उनका प्रतिहार करना चाहिये। ये पन्दरह कर्मादान सावद्य योग व्यापार हैं तथा आजीविका आश्रित हैं।—कर्मादान को ढाल १-१६

(८) अनर्थ दण्ड प्रत्याख्यान व्रत

व्रत की आवश्यकता

(१) (गुरुः) सातवें व्रत का विवेचन पूरा हुआ अब आठवें विवेचन करता हूँ। अर्थ क्या है और अनर्थ क्या है—इसको का पहचानने के लिए इस विवेचन को सुनो। —८। दो० १

(२) पहले सात व्रत अङ्गीकार कर लेने के बाद भी जो ादि पापों की अव्रत रहती है उससे जीव के निरन्तर पाप-ों का सचार होता रहता है। —८। दो० २

(३) यह अव्रत सप्रयोजन या निष्प्रयोजन इस प्रकार दो ह की हो सकती है। पहली अव्रत को अर्थ दण्ड और दूसरे ार के अव्रत को अनर्थ दण्ड कहते हैं। इन दोनों से पाप-ों का संचार होता है।—८। दो० ३

(४) 'अर्थ'—अर्थात् अपने स्वार्थ के लिए नाना सावद्य ों का करना और अनर्थ अर्थात् बिना प्रयोजन पाप करने ी जरा भी नहीं डरना। —८। दो० ४

(५) प्रयोजन वश पाप कार्य कर आत्मा को कलुषित ना अर्थ दण्ड और निरर्थक बिना प्रयोजन पाप कार्य कर मा को कलुषित करना अनर्थ दण्ड है। यह भली भांति समझ कि इन दोनों प्रकार के कार्यों से पापाश्रव होता है क्योंकि ोजन (अर्थ) हो या निष्प्रयोजन (अनर्थ) सावद्य कार्य हमेशा के कारण है। स्वार्थों के लिए होते अधर्म कार्यों को छोड़ना कल हो सकता है फिर भी निष्प्रयोजन अनर्थ सावद्य कार्यों अवश्य प्रत्याख्यान करना चाहिये। —८। दो०५

अनर्थ दण्ड के भेद

(६) अनर्थ दण्ड के अनेक भेद हैं वे पूरे नहीं कहे जा सकते। थोड़े-से भेद बतलाता हूँ, चित्त लगा कर सुनना। —८। दो० ६

(७) अनर्थ दण्ड के चार प्रकार हैं—(१) अपध्यान (२) प्रमाद जिस तरह घी आदि के बर्त्तन खुले रखना (३) हिंसा के साधन शस्त्रादि को जोड़ना या देना तथा (४) नाना प्रकार के पाप-कर्म करने का उपदेश। इन चारों अनर्थों का प्रत्याख्यान कर जिन भगवान की आज्ञा का पालन करें।

—८।१-२

(८) अर्थ दण्ड से ही अनर्थ दण्ड को पहचाना जा सकता है। अर्थ दण्ड के अनेक प्रकार हैं, संक्षेप मात्र ही उसका खुलासा करता हूँ। -८।३

(९) अपध्यान के दो प्रकार हैं—एक आर्त्त और दूसरा रौद्र। विविध हर्ष-शोक का अनुभव करना, इन्द्रियों के भले शब्दादि विषयों में आसक्ति—उनके प्राप्ति की निरन्तर इच्छा और अप्रिय भोगों में द्वेष उनके वियोग की वांछा; रोगादि में अरुचि और भोगों में प्रसन्नता ये सब आर्त्तध्यान हैं। —८।४-५

(१०) अपने, अपने मातापिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू आदि कुटुम्बी, परिचित सज्जन, नौकर चाकर, सगे स्नेही, बोहरे आदि को लेकर आर्त्तध्यान किया करना, उनके सुख में सुखी और उनके दुःख में दुखी होना आर्त्तध्यान रूपी अर्थ दण्ड है। ऐसे अर्थ दण्ड को समतापूर्वक यथाशक्य दूर कराना चाहिए तथा अनर्थ आर्त्तध्यान अर्थात् कोई भी प्रयोजन बिना किये जाते हुए आर्त्तध्यान का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

—८।६-७

अपने परिवार के प्रयोजन बिना कौन है जो पापोपदेश को स्थान कर मैले कर्मों को ग्रहण करेगा। —८।१३

अर्थ अनर्थ की समझ

(१६) अपनी या अपने परिवार आदि की यश-कीर्ति, मान बड़ाई के लिये या शर्माशर्मी तथा लोक-लाज से हिंसादि कार्य किए जाते हैं वे सब अर्थ दण्ड में शामिल हैं। —८।१४

(१७) जिस कर्त्तव्य के करने से लोगों में निन्दा होती है वह अनर्थ दण्ड है। छः प्रकार के आगार में जो हिंसादि पाप कार्य किए जाते हैं वह अर्थ दण्ड है। — ८।१५

(१८) सूयगडांग सूत्र के अठारहवें अध्ययन में (१) अपने लिए (२) माता-पिता, पुत्र, पुत्री, भाई बहिन आदि कुटुम्बियों के लिए (३) न्यातीले—सगे सम्बन्धियों के लिए (४) घर के लिए (५) मित्र सज्जनों के लिए (६) नाग देवताओं के लिए (७) भूत प्रेत के लिए तथा (८) यक्ष के लिए हिंसादि सावद्य कार्यों का करना, कराना और अनुमोदन करना अर्थ दण्ड है। —८।१६-१७

(१९) अपने लिये या अपने परिवार आदि के लिए इस लोक-सम्बन्धी राजऋद्धि भोगादि की वांछा करना, परलोक में देव, देवेन्द्र आदि पदवी की इच्छा करना, सुखी अवस्था में जीने की इच्छा और दुःख आने पर मरने की वांछा तथा काम भोग की वाछा करना, कराना या अनुमोदन करना ये पाप के

कारण है। बिना प्रयोजन करना अनर्थ दण्ड है। व्रतधारी के ऐसा करने पर व्रत-भंग होता है। —८।१८

(२०) असंयति जीवों के जीने की वांछा—उनके जीने से हर्षित होना—यह जब अपने या परिवार आदि के लिए किया जाता है तो पाप का लगना सप्रयोजन होता है। जब निरर्थक ही बिना प्रयोजन ही यह वांछा होती है तो अनर्थ दण्ड प्रत्याख्यान व्रत भंग होता है। —८।१९

(२१) असंयती जीवों को मारने की वान्छा करना या उनको मारना मरवाना जब अपने या अपने परिवार आदि के लिए होता है तो पाप का लगना अर्थ दण्ड है। बिना प्रयोजन ये कार्य करने से अनर्थ दण्ड प्रत्याख्यान व्रत का भंग होता है।

—८।२०

(२२) अन्य गृहस्थों को काम भोग भोगाने की वांछा करना या भोगवाना या उसका अनुमोदन करना जब अपने या अपने परिवारादि के लिए होता है तो पाप का आगमन अर्थ दण्ड है परन्तु बिना प्रयोजन ऐसा करना व्रत भङ्ग है।—८।२१

(२३) गृहस्थ को उपभोग परिभोग सेवन कराने से निश्चय ही कर्म बंध होता है। अपने या अपने परिवार आदि के लिए सेवन करवाना अर्थ दण्ड है। बिना प्रयोजन ऐसा करना व्रत भङ्ग है। —८।२२

(२४) थोड़ा भी गृहस्थी का कार्य करने से निश्चय ही पाप कर्मों का बंध होता है। ये सब कार्य प्रयोजन से किए जाते हैं

सब अर्थ दण्ड होता है बिना प्रयोजन करने से व्रत भंग होता है।
—८।२३

(२४) मैं कह-कह कर कितना कहूँ। अर्थ पाप करना और अनर्थ पाप करना ये दोनों दण्ड हैं। अर्थ दण्ड का आगार जान कर रख लिया जाता है अनर्थ दण्ड का प्रत्याख्यान कर लिया जाता है। —८।२४

(२५) इनको अच्छी तरह पहचानो तथा यथाशक्य करण योग से नियम कर इन्हें ग्रहण करो। जो-जो छिद्र- अव्रत रूपी छिद्र रुंधेगा वह धर्म है और जो-जो छिद्र खुला रखा जायगा वह अधर्म है। - ८।२५

(२७) आठवें व्रत के सम्बन्ध में बहुत बातें हैं। यह अल्प मात्र कहा है। अब नवमें व्रत का विचार करूंगा। हे! भविजनो चित्त लगा कर सुनना। —८।२६

अनर्थ दण्ड विरमण व्रत के अतिचार

अनर्थ दण्ड विरमण व्रत को दोष पहुंचानेवाले निम्न लिखित पांच अतिचार वर्जनीय हैं:—

(१) काम विकार पैदा करने वाली बातें करना; (२) भाण्ड की तरह आंख, भृकुटी, हाथ, पैर आदि अंग उपांगों को नाना प्रकार से विकृत कर असभ्य हास्य परिहास करना या किसी की नकल करना; (३) बकवाद करना, बिना प्रयोजन [illegible] बोलना; (४) सजे हुए हथियार या औजार तैयार

रखना जिस तरह दारू से भरी हुई बन्दूक रखना, या धनुप बाण पास-पास में रखना, या हिंसा के एक उपकरण को उसके दूसरे उपकरण के साथ या समीप रखना जिस तरह ऊख के पास मूसल, हल के पास फाला रखना आदि, (५) उपभोग परिभोग के निश्चित परिमाण से चलित होना। —अ० २०

ये पांचों अतिचार व्यर्थ ही सेवन करने से व्रत को दोप लगता है। प्रयोजन वश इनके सेवन करने से भी पाप होता है परन्तु उससे व्रत को जरा भी दोप नहीं लगता। —अ० २१

(९) सामायिक व्रत

शिक्षा व्रतों के नाम और स्वरूप

(१) (गुरुः) पहिले पांच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं उनके बाद के तीन व्रत गुणव्रत कहलाते हैं और बाद के चार व्रतों के समूह को शिक्षाव्रत कहते हैं। —९। दो० १

(२) जिस तरह मन्दिर की चोटी पर कलश होता है और मस्तक के अन्त में मुकुट, उसी तरह अणुव्रत और गुणव्रतों के कलश और मुकुट स्वरूप शिक्षाव्रतों को समदृष्टि पालन करते हैं। —९। दो० २

(३) अणुव्रत और गुणव्रत मिला कर आठ व्रत तो यावज्जीवक हैं परन्तु शिक्षाव्रत मे से प्रत्येक के प्रत्याख्यान अलग-अलग समय के लिये होते हैं। —९। दो० ३

(४) सामयिक एक मुहूर्त—४८ मिनट तक एकाग्रचित्त करनी होती है, देशावकाशिक व्रत को इच्छानुसार काल नियम से धारण कर सकते हैं। —९। दो॰ ४

(५) पोषध व्रत रात या दिन, या रात दिन के लि निर्मल ध्यान से आत्मा को भावित करते हुए करना होता है तथा बारहवाँ व्रत श्रमण निर्ग्रन्थ को निर्दोष दान देने होता है। —९। दो॰ ५

सामायिक का स्वरूप

(१) एक मुहूर्त (४८ मिनिट) के लिए मन वचन काय —इन तीन योग यथा करने कराने इन दो करणों से सावद्य कार्य—पाप प्रवृत्तियों का समभावपूर्वक प्रत्याख्यान करना सामायिक व्रत है। —९।१

(२) ऊपर में तीन करण तीन योग पूर्वक भी सामायिक के प्रत्याख्यान होते हैं। उस हालत में गृहस्थ को गृहस्थ विषयक सब बातों में हर्ष-शोक रूप अनुमोदन को छोड़ देना पड़ता है। —९।२

(३) सामायिक लेते समय जो उपकरण अपने पास रख लिए जाते हैं उनके सिवा सब उपकरणों का इस व्रत में प्रत्याख्यान होता है। उपकरणों का रखना भोग से अनिवृत्ति है। इस अनिवृत्ति या अविरति से निरन्तर पाप कर्मों का संचार होता रहता है। —९।३

(४) सामायिक में जो उपकरण रखने हों उनका परिमाण निश्चित कर लेना चाहिए। फिर तीन करण तीन योग से पाँचों ही हिंसादि पापागमन के कारणों (आस्रवों) का त्याग करना चाहिए। --९।४

(५) जो पहिनने, ओढने, बिछाने आदि के लिए बार-बार काम में आनेवाले उपकरण रखे जाते हैं वे केवल शरीर सुख के लिए ही रखे जाते हैं और इसलिए उनका रखना सावद्य —पापमय कार्य है। —९।५

(६) तथा गहने आभूषण आदि भी जो पास में होते हैं वे भी अविरति रूप हैं। सामायिक में भी उनके रखने का पाप तो निरन्तर लगता ही है। —९।६

(७) सामायिक, संवर—कर्मों को रोकने का साधन—उपाय—धर्म है, इसलिए भगवान ने सामायिक का उपदेश दिया है। आभूषण तथा उपकरणों का उपभोग करना पाप है अतः भगवान की उनके रखने में आज्ञा नहीं है। —९।७

(८) जिन भगवान ने भगवती सूत्र के सातवें शतक के पहिले उद्देशक में सामायिक व्रतधारी श्रावक की आत्मा—शरीर को अधिकरण बतलाया है। —९।१०

(९) अधिकरण अर्थात् छः काय के जीवों के लिए शस्त्र-स्वरूप। ऐसे शस्त्र स्वरूप शरीर की सार सम्भाल करना प्रत्यक्ष सावद्य योग—पाप कार्य है। वस्त्रादि का पहरना, ओढ़ना तथा शरीर की शुश्रूषा करना, चलना-फिरना, आदि सब कार्य शरीर

रूप शस्त्र को धार देने के समान सावद्य हैं। उनमें पाप की उत्पत्ति होती है अतः भगवान इन कार्यों के करने की आज्ञा नहीं करते। —९।११-१२

(१०) जिस कार्य के करने में भगवान की अनुमति नहीं है यह प्रत्यक्ष सावद्य योग है तथा जिस कर्त्तव्य के करने में भगवान का आदेश है यह निश्चय ही निर्वद्य—निष्पाप है। —९।१५

(११) जो उपकरण पास में रख लिए जाते हैं वे छूट स्वरूप हैं। श्रावक सामायिक में उनकी सार सम्भाल करता है परन्तु छोड़े हुए उपकरणों की सार सम्भाल नहीं करता इसलिए उसके किसी प्रकार से व्रत भंग नहीं है। —९।१७

(१२) सूयगडांग सूत्र तथा उववाई सूत्र में भगवान ने उपकरण रखने को अविरति बतलाया है। इनका सेवन करना या कराना सावद्य योग है। इसमें भगवान आदेश नहीं दे सकते। —९।१८

सामायिक में सावद्य की छूट कैसे ?

(१३) कोई प्रश्न करे कि सामायिक करने वाले के सावद्य योग का प्रत्याख्यान होता है, उसके छूट कहाँ रहती है कि पाप आकर लगे ? उसको इस प्रकार उत्तर दो : —९।१९

(१४) 'सामायिक में श्रावक के सर्व सावद्य प्रवृत्ति का ... न [illegible] होता। सर्व सावद्य योगों से निवृत्ति तो साधुओं ... है। —९।२०

(१५) श्रावक सामायिक में छः कोटि से प्रत्याख्यान करता है इस प्रकार उसके तीन कोटि की छूट रह जाती है जिससे उसके निरन्तर पाप लगते रहते हैं। इस प्रकार श्रावक के सामायिक में भी सावद्य-योग की प्रवृत्ति है।

९।२१

(१६) सामायिक में रहते हुए भी श्रावक को पुत्र उत्पन्न होने से हर्ष और मरने से सन्ताप होता है। इस प्रकार अनुमोदन की छूट वह रखता है। इसलिए सामायिक में भी श्रावक के सावद्य प्रवृत्ति है। —९।२२

(१७) इसी तरह सामायिक में श्रावक रखे हुए आभूषण वस्त्र की सम्भाल रखता है, अग्नि लगने पर या चोरादि के भय उत्पन्न होने से सावधानी पूर्वक वह एकान्त स्थान में जाता है। सामायिक में समभाव रखना होता है, चित्त की चंचलता को दूर कर उसे स्थिर करना पड़ता है, इस हालत में छूट न रहने से उपरोक्त कार्य व्रत को भंग किए बिना नहीं किए जा सकते। इन कार्यों का करना अपनी रखी हुई छूट का उपयोग है इसलिए इनमें व्रत भंग की आशंका तो नहीं है फिर भी ये सावद्य कार्य अवश्य है। —९।२२-२५

(१८) अग्नि या सर्पादिक के भय से श्रावक सावधानी पूर्वक एक जगह से निकल दूसरी जगह चला जाता है परन्तु दूसरे पास में बैठे हुए लोगों को बाहर नहीं ले जाता है इसका कारण निम्न लिखित है। —९।२६

(१६) कि उसके ऐसी परिस्थिति में उठ कर अपने को बचाने की छूट रखी हुई है परन्तु दूसरों को बचाने की छूट नहीं होती इसलिए खुद वहां से चला जाता है परन्तु दूसरों को किस प्रकार ले जाय ? —९।२७

(२०) ऐसी परिस्थिति में अपने पास रखे हुए कपड़ों को वह साथ ले जाता है परन्तु बाकी घर में जो बहुत कपड़े आदि होते हैं उनको वह बाहर नहीं ले जाता। — ९।२८

(२१) जो वस्त्रादि वह आगार—छूट रूप से रख लेता है उनको ले जाने से व्रत भंग नहीं होता परन्तु त्यागे हुए वस्त्रादिक को यदि वह ले जाय तो सामायिक व्रत का ही भंग हो जाय।
—९।२९

(२२) इससे यह साफ प्रगट है कि श्रावक के सामायिक में सर्व सावद्य प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान नहीं होता परन्तु मर्यादा उपरान्त उनका त्याग होता है। —९।३०

(२३) इसलिए जितना त्याग किया है उतना ही सावद्य प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान है परन्तु सर्व सावद्य योगों से निवृत्ति श्रावक के नहीं होती वह केवल साधुओं के होती है।' —९।३१

(२४) सामायिक में जो उपकरण रखे गए गये हैं वे खुद के भोगने के लिए प्रथम करण से रक्खे हैं। सेवन करवाने का त्याग होने से दूसरों को सेवन नहीं कराए जा सकते। —९।३२

(२५) द्रव्य की अपेक्षा रखे हुए द्रव्यों के सिवा सब के त्यागपूर्वक, क्षेत्र की अपेक्षा सर्व क्षेत्र में, काल की अपेक्षा एक

मुहूर्त के लिए, भाव की अपेक्षा राग-द्वेष रहित परिणामों से —इस प्रकार जब समझ कर सामायिक की जाती है तो वह शुद्ध होती है और संवर निर्जरा की हेतु होती है अर्थात् नए कर्मों का आना रुक कर पुराने कर्म जीर्ण होते हैं। —९।३३-३४

सामायिक व्रत के अतिचार

सामायिक व्रत के धारक गृहस्थ उपासक को निम्नलिखित अतिचारों से बचना चाहिए :—

(१) मन की दुष्प्रवृत्ति करने से, (२) वचन की दुष्प्रवृत्ति करने से—अर्थात् सावद्य वचन बोलने से, (३) काया की दुष्प्रवृत्ति करने से अर्थात् बिना उपयोग रखे बिना हाथ पैर आदि को हिलाने-डुलाने से, (४) सामायिक क्रिया में कोई भूल करने से जिस तरह बिना पारे ही सामायिक से उठ जाने आदि से, (५) सामायिक में अस्थिर बनने से—मन चचल करने से जिस तरह कालावधि के पूर्व ही सामायिक पार लेने की इच्छा करने से या पार लेने से या समभाव न रखने से।—अ० २२

(१०) देशावकाशिक व्रत

(१) (गुरुः) दसवां व्रत देशावकाशिक व्रत कहलाता है। इसके बहुत-से प्रकार हैं, संक्षेप में प्रगट करता हूँ विवेक पूर्वक सुनना। —१० दो० १

(२) देशावकाशिक व्रत के विविध दो भाग होते हैं। एक में छठे व्रत की तरह दिशी मर्यादा करनी पड़ती है दूसरे में सातवें व्रत की तरह उपभोग परिभोग सामग्री का संकोच करना पड़ता है। —१०।१

(३) मुख्य से छहों दिशा की मर्यादा का संकोच, दिशाओं में मर्यादित क्षेत्र के उपरान्त हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, और परिग्रह इन पांच पापहेतु (आस्रवों) का प्रत्याख्यान करना पड़ता है। —१०।२

(४) काल की अपेक्षा दिनरात के लिए, रागद्वेष रहित परिणामों से, जितने करण योगों से प्रत्याख्यान करना हो उतने करण योगों से, जो क्षेत्र जीवन व्यवहार के लिए रक्खा हो उस क्षेत्र में द्रव्यादिक के व्यवहार की यथाशक्ति मर्यादा करे तथा भोगादिक के सेवन का शक्ति भर त्याग करे। —१०।३-४

(५) कोई कम में नवकारसी आदि और कोई उससे अधिक काल की मर्यादा से सावद्य कार्यों का त्याग करता है। यह व्रत जो जिस काल मर्यादा से करना चाहे उसी काल मर्यादा से कर सकता है। —१०।५

(६) जितनी काल मर्यादा कर हिंसा का त्याग किया जाता है उतनी काल मर्यादा समाप्त हो जाने पर आगे प्रत्याख्यान नहीं होते। —१०।६

(७) कोई हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन परिग्रह इन पांचों ही कर्म [illegible]ों का अमुक समय तक के लिए प्रत्याख्यान करता है।—१०।७

(६) सामायिक और पोषध इन दोनों की विधि एक है—दोनों की एक रीति है यह विवेक पूर्वक समझो। —११।१८

व्रत-ग्रहण में हेतु

(१०) पोषह इस लोक के लिए नहीं करना चाहिए, न खाने के सुख के लिए करना चाहिए, न लोभ और लालच वश होकर पोषह करे और न परलोक के सुखों के लिए करना चाहिए। —११।१९

(११) पोषह केवल संवर और निर्जरा के लाभ के लिए ही करना चाहिए और किसी ऐहिक सुख की लालसा या वांछा से नहीं। जो केवल कर्म रोकने और कर्म तोड़ने की भावना से पोषह करता है उसी का पोषध भाव से शुद्ध कहा जा सकता है।—११।२०

(१२) कई-कई लाडू पाने के लिए पोषह करते हैं या अन्य किसी वस्तु या परिग्रह के लिए। ऐसा पोषध करना केवल नाम के लिए पोषध है। —११।२१

(१३) ऐसे हेतु से पोषध करने वाले को केवल पेटार्थी समझना चाहिए तथा उसे मजदूरों की कोटि में गिनना चाहिए। ऐसे लोगों की आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता। उनके गले में उलटी फाँसी लग जाती है। —११।२२

(१४) जो लाडू या धन का लोभ देकर पोषध कराते हैं वे [illegible] के लिए पोषध कराते हैं, उनके संवर निर्जरा का [illegible] होता। —११।२३

(१५) भगवान ने यह कहीं भी नहीं कहा है कि पैसा देकर पोषध कराना चाहिए। कर्म-क्षय के लिए जो इस प्रकार मजूरों को लगाते हैं उनके घट में घोर अज्ञान है। इस प्रकार पोषध कराना किसी भी सूत्र में नहीं कहा है। —११।२४

(१६) खेत-निनाण के लिए मजदूर किए जाते हैं, घर मकान बनवाने के लिए भी मजदूर भाड़े पर किए जाते हैं, कडब काटने आदि कार्य के लिए भी मजदूर किए जाते हैं परन्तु कर्म काटण के लिए मजदूरों को भाड़े करने की बात तो कहीं नहीं आई।

(१७) खेत खड़ने के लिए, बोझ ढोने के लिए तथा धान काटने के लिये मजदूर किए जाते हैं परन्तु कर्म काटने के लिए कहीं मजदूर नहीं किए जाते। —११।२५-२७

(१८) जिन्हों ने काम भोग से विरक्त हो कर उनका शुद्ध हृदय से त्याग किया है और जो केवल मुक्ति के हेतु पोषध करते हैं उनके पोषध को भगवान ने असल पोषध कहा है। —११।२८

(१९) जिन भगवान ने कहा है कि जो इस प्रकार पोषध करेगा उसके आत्म कार्य सिद्ध होगा; उसके नए कर्मों का संचार रुक कर पुराने कर्मों का नाश होगा। —११।२९

पोषध व्रत के अतिचार

इस पोषध व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं :—

(१) नहीं देखे हुए या अच्छी तरह नहीं देखे हुए आसन या बिछौने का उपयोग करना; (२) नहीं झाड़े हुए, अच्छी

(३) जीव ने अनन्त वार लाखों करोड़ों खर्च किए हैं, परन्तु जो जीव के लिए मुक्ति का आधार है वह सुपात्र दान दुर्लभ है। —१२। दो० ५

(४) इस अतिथि संविभाग व्रत के लाभ को प्राप्त करने के लिए रोज-रोज प्रयत्न करना पड़ता है। स्व-हाथ से दान देने की रुचि होने तथा साधुओं की भावना भाते रहने से संयोग वश यह व्रत होता है। —१२। दो० ६

देय चीजें

(५) श्रमण निर्ग्रंथ अणगार को निर्दोष, पवित्र, निर्जीव, और स्वीकार करने योग्य खान-पान, मेवा-मुखवास, वस्त्र-पात्र कंबल, रजोहरण, पादप्रौंछन, आसन्न, बैठने-सोने के बाजोट, शय्या, स्थान तथा औषध-भैषज देने से यह बारहवाँ व्रत होता है। —१३।१-२

व्रतधारी का कर्तव्य और उसकी भावना[1]

(६) श्रावक अन्न-पान आदि उपरोक्त कल्प्य वस्तुएँ साधु को देकर अत्यन्त हर्षित होवे और विचार करे कि आज धन भाग और धन घड़ी है कि शुद्ध साधु के संयोग से बारहवें व्रत का लाभ हुआ। —१५।१

१—और भी देखो पृ० ८८ पेरा ६

(७) व्रतधारी का यह आचार है कि जब वह अपने घर- [illegible] साधु के [illegible] करने योग्य [illegible] साधुओं की भिक्षा के [illegible] कर साधुओं की भावना भावे—[illegible] —१३।७

(८) श्रावक साधु को अशुद्ध [illegible] नहीं [illegible] सचित्त [illegible] नहीं [illegible] सचित्त के आगे [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] मन में [illegible] निर्जरा की [illegible] भावना रहे। —१३।८

(९) यदि सचित्त को छूना [illegible] भी हो [illegible] [illegible] साधु को [illegible] बिना सचित्त में हाथ न डाले। १३।९

(१०) यदि कोई साधु के योग्य वस्तु असूझती हो और स्वतः सहज ही सूझती हो जाय तो उसे सावधानी से सूझती रखे तथा उसे फिर सचित्त पर न रखे। और कल्प वस्तु देने की निरन्तर भावना भावे। —१३।१०

(११) जो व्रतधारी श्रावक होते हैं वे भोजन के समय अपने द्वार बंद नहीं करते। उववाई तथा सूत्रकृतांग सूत्र में श्रावकों के खुले द्वार आए हैं। —१३।११

(१२) यदि द्वार स्वतः ही खुले हों तो खुले दरवाजों को न जड़े और उन्हें खुला रखे, जिससे कि साधुओं को दान दिया जा सके। —१३।१२

(१३) वेषधारी साधु दरवाजे खोल कर भी घर के भीतर चले जाते हैं परन्तु सच्चे साधु कभी दरवाजे नहीं खोलते इस लिए व्रतधारी श्रावक अपने द्वार खुले रखता है। —१३।१३

(१४) सहज ही (बाहर से) घर पहुंचने पर यदि शुद्ध आहार तैयार हुआ मालूम दे तथा गोचरी का काल मालूम दे तो श्रावक साधु की बाट जोवे। —१२।१४

(१५) जिस (श्रावक) के हृदय में स्व-हाथ से दान देने की तीव्र अभिलाषा होती है उसके हृदय में साधु निरन्तर बसते रहते हैं। वह साधुओं का ध्यान हृदय पट से कैसे उतारेगा ?—१२।१५

(१६) श्रावक अच्छी वस्तु को छिपा कर नहीं रखता, दिल में लोलुपता या लोभ नहीं लाता और झूठी शोभा न साझते हुए यथा शक्ति साधु को एषणीय वस्तुओं का दान देता है।

—१२।२१

(१७) अपना खाना-पीना अव्रत है तथा उससे पाप कर्म का बंध होता है यह जान कर श्रावक सुपात्र को दान देवे और उसमें संवर निर्जरा धर्म समझे। —१२।२२

(१८) सुपात्र दान देते समय लेखा (हिसाब) नहीं लगाना चाहिए। हिसाब करने से लोभ उत्पन्न होता है जिससे अढलक दान नहीं दिया जाता। —१२।२३

(१९) लाडू जैसी मिठाई हो या धोवण आदि जैसी तुच्छ वस्तु यदि वह प्रासुक और एषणीय हो तो एक समान परिणामों से अर्थात् विना संकोच भाव के—बहराना चाहिए। ऐसा सुन्दर सुअवसर प्राप्त कर व्रतधारी अपने पास चाहे तुच्छ वस्तु ही हो साधु को विना बहराए नहीं जाने देता।

—१२।२४

(२०) यदि किसी अंतराय के उपस्थित हो जाने से मा
बिना भिक्षा लिए ही वापिस फिर जाय तो उसके लिए पश्चा
त्ताप करना चाहिये। ऐसा करने से पुण्य का बंध होता है और
कर्मों की निर्जरा होती है। —१२।१०

(२१) यदि साधु के लौट जाने के कारण पश्चात्ताप होने
पुण्य बंधता है तब बहराने में अनन्त लाभ है। भगवान
कहा है कि शुद्ध दान देने वाले के तीर्थंकर गोत्र तक बं
जाता है। —१२।१६

मन के गुण

(२२) श्रावक दान न देने के भाव से निर्दोष वस्तु
सदोष नहीं करता और बहराने का भाव लाकर असूझती
सूझती नहीं करता। —१२।२०

(२३) विकट परिस्थिति उत्पन्न हो तो भी श्रावक जान
असूझती वस्तु नहीं देता और हाथ से दी हुई निर्दोष वस्
वापिस लेने का विचार नहीं करता। —१२।२८

(२४) दान न देने के भाव से श्रावक गोचरी के सम
को नहीं टालता; तथा मत्सर, मान या बड़ाई आदि दोषों
बच कर दान देता है। —१२।२९

(२५) दान देने के भाव से या नहीं देने के भाव से श्राव
दूसरे की वस्तु को अपनी नहीं कहता और न अपनी वस्तु क

दूसरे को कहता है। वह धर्म प्राप्ति के स्थान में झूठ बोल कर उलटा पाप-कर्म नहीं बांधता और न केवल मुख से बड़ी-बड़ी बातें बनाता है। —१२।२०

दानी का लक्ष्य

(२६) सुपात्र दान से पुण्य का बंध होता है और अनेक सांसारिक सुख मिलते हैं परन्तु समदृष्टि श्रावक पुण्य की लालसा से साधु को दान नहीं देता परन्तु संवर और निर्जरा की भावना से देता है। पुण्य तो सहज ही अपने-आप आकर लग जाते हैं। —१२।३७-३८

अपात्र दान का परिहार

(२७) श्रावक अव्रती को दान देते हुए हमेशा धड़कता रहता है तथा जिनको दान देने से बारहवें व्रत का फल मिलता है उनको देखते ही वह हर्षित होता है। —१२।२५

(२८) अव्रत में दान देने का काम आ पड़ता है तब श्रावक देते हुए संकोच करता है तथा दे भी देता है तो उसके लिए पश्चाताप कर अपने कर्मों को कुछ ढीला करता है। —१०।८०

(२९) अव्रत में दान देने से कर्म बंध समझ कर तथा उसका फल मुझे दुखदायी होगा यह समझ कर श्रावक अपने को बचाने का उपाय करता है। —१२।८१

(३०) अव्रत में दान देने से आठों ही कर्मों का बंध होता है तथा सुपात्र दान से संवर और निर्जरा धर्म होता है। श्रावक इस बात को समझें। —१२।४२

(३१) जो अव्रत में दान देने का शुद्ध मन से त्याग कर, कुपात्र दान के द्वार को हमेशा के लिए बन्द कर देता है, उसकी बुद्धि की गुरु भगवान ने प्रशंसा की है। —१२।४३

(३२) कुपात्र दान मोह-कर्म के उदय का फल है और सुपात्र दान क्षयोपशम भाव है। सुपात्र दान से बारहवें व्रत का लाभ होता है। इसका न्याय सम्यग्दृष्टि समझ सकते हैं।

—१२।४४

स्थान और शय्या दान

(३३) जो उतरने की जगह सूझती रहने पर साधुओं की बाट जोहता है, उसके कर्मों का क्षय होता है और पुण्य के थाट लग जाते हैं। —१२।४५

(३४) बाट देखते २ जब साधु पधार जाते हैं तो श्रावक उनको उतरने के लिए स्थान देकर अत्यन्त हर्षित होता है और साधु के उतरने से धन घड़ी और धन भाग समझता है।

—१२।४६

(३५) शुद्ध साधु को शय्या दान देने से कई अनन्त संसारी प्रति संसार करते हैं और कई शुद्ध गति का बन्ध बांधते हैं और काल-क्रम से इस संसार समुद्र का पार पाते हैं। —१२।४७

(३६) शय्या, स्थान आदि साधु को देने से अनन्त जीव तिरे हैं, तिरेंगे और तिर रहे हैं ऐसा भगवान ने कहा है। --१२।४८

दान को प्रोत्साहन और दानी की प्रशंसा

(३७) भगवान ने कहा है कि निर्दोष, सुपात्र दान देने, दिराने और देने वाले का अनुमोदन करने से बारहवाँ व्रत होता है।—१२।४९

(३८) श्रावक को अपने पुत्र, स्त्री, मा, बाप आदि के भावों को विशेष तीव्र करना चाहिए तथा उनको शुद्ध विवेक सिखा कर उन्हें दान देने में सम्मुख करना चाहिए। —१२।५०

(३९) दूसरे को अढलक दान देते हुए देख कर उसके परिणाम ढीले नहीं करने चाहिए। यदि कदाश अपने से दिया न जाय तो कम-से-कम देने वाले के तो गुण गाने चाहिए।

—१२।५२

(४०) जिन भगवान का धर्म पाकर गृहस्थ को ये दो दोष दूर करने चाहिए—(१) दातार के गुणों को सहन न कर सकना और (२) अपने से न दिया जाना। —१२।५३

(४१) कई अन्य तीर्थी भी ऐसे नित्य नियमी हैं कि ठाकुरजी को भोग चढाए बिना मुँह में अन्न नहीं डालते। हालाँ कि उन्हें इस बात का पता नहीं है कि उनके देव भोग लेते हैं या नहीं तो भी वे आस्था--विश्वास पूर्वक रोज-रोज उनके प्रति अपनी भावनाओं को पोषित करते हैं। फिर व्रतधारी, शुद्ध श्रावक, ...

(३६) शय्या, स्थान आदि साधु को देने से अनन्त जीव तिरे हैं, तिरेंगे और तिर रहे हैं ऐसा भगवान ने कहा है।—१२।४८

दान को प्रोत्साहन और दानी की प्रशंसा

(३७) भगवान ने कहा है कि निर्दोष, सुपात्र दान देने, दिराने और देने वाले का अनुमोदन करने से बारहवाँ व्रत होता है।—१२।४९

(३८) श्रावक को अपने पुत्र, स्त्री, मा, बाप आदि के भावों को विशेष तीव्र करना चाहिए तथा उनको शुद्ध विवेक सिखा कर उन्हें दान देने में सम्मुख करना चाहिए। —१२।५०

(३९) दूसरे को अढलक दान देते हुए देख कर उसके परिणाम ढीले नहीं करने चाहिए। यदि कदाश अपने से दिया न जाय तो कम-से-कम देने वाले के तो गुण गाने चाहिए।

—१२।५२

(४०) जिन भगवान का धर्म पाकर गृहस्थ को ये दो दोष दूर करने चाहिए—(१) दातार के गुणों को सहन न कर सकना और (२) अपने से न दिया जाना। —१२।५३

(४१) कई अन्य तीर्थी भी ऐसे नित्य नियमी हैं कि ठाकुरजी को भोग चढाए बिना मुँह में अन्न नहीं डालते। हालाँ कि उन्हें इस बात का पता नहीं है कि उनके देव भोग लेते हैं या नहीं तो भी वे आस्था—विश्वास पूर्वक रोज-रोज उनके प्रति अपनी भावनाओं को पोषित करते हैं। फिर व्रतधारी, शुद्ध श्रावक, जिस

का तन मन धर्म के रंगा हुआ है वह गुरु की भावना भाए बिना किस प्रकार मुंह में अन्न डाल सकता है ? —१२।५५-५७

(४२) अन्य तीर्थी भी अपने गुरुओं की सच्ची सेवा करते हैं तो फिर यदि साधु आंगने पधारें तो श्रावक इस को साधारण बात नहीं समझता। —१२।५८

दान की प्रशंसा क्यों ?

(४३) कई कहते हैं कि दान की जो इतनी प्रशंसा की है यह केवल दान प्राप्त करने का उपाय किया है। परन्तु ऐसा मध-बुध रहित लोग ही कह सकते हैं। सच्चा श्रावक तो ऐसी हलकी बात मुंह से भी नहीं निकालता। —१२।५९

(४४) जिसके दान देने के परिणाम—भाव होते हैं वह तो सुन-सुन कर हर्षित होता है और कहता है कि सद्गुरु ने मुझे अतिथि संविभाग व्रत की शुद्ध विधि बतला दी। —१२।६०

उपसंहार

(४५) अणुव्रत और गुणव्रत ये प्रतिमा और मन्दिर समान हैं। शिक्षाव्रत कलशों की तरह है जिनमें सबसे श्रेष्ठ व्रत बारहवां है। यह बुद्धिदान ही पहचान सकते हैं। —१२।६१

(४६) इस दान के प्रताप (बल) से बहुत तिरे हैं, तिर रहे हैं और तिरेंगे इसमें जरा भी शंका नहीं लानी चाहिए। भगवान ने खुद ऐसा कहा है। —१२।६२

(४७) मैं कह कर कितना कह सकता हूँ। करोड़ जिह्वा द्वारा कहने पर भी इस दान के पूरे गुणग्राम नहीं गाये जा सकते। —१२।६४

(४८) सं० १८३२ की वैशाख सुदी २, मंगलवार को गुदपा शहर मे यह बारहवें व्रत की जोड़ (रचना) की है।

—१२।६५

३

साधु आचार

भिक्षु को चित्त की सर्व प्रकार की चंचलता दूर कर, तथा सर्व सम्बन्धों से रहित बन, किसी भी भूत-प्राणी को दुःख का कारण हुए बिना विचरना चाहिए। सन्यास लेने के बाद उसे दीन तथा खिन्न नहीं होना चाहिए। ... भोगों के सम्बन्ध में दीन वृत्तिवाले होते हैं, वे पाप कर्म किया ही करते हैं। इसलिए चित्त को अत्यन्त स्वस्थता और एकाग्रता प्राप्त करनी चाहिए। उसे जागृत रहना चाहिए, एकाग्र रहना चाहिए, तथा विवेक ... आचार में प्रीतियुक्त हो स्थिर चित्तवाला बनना चाहिए।

बुद्धिमान भिक्षु को धर्म को अच्छी तरह समझ, सर्व प्रकार से निःसंग ... कहीं भी आसक्त हुए बिना विचरना चाहिए, तथा सर्व प्रकार की लालसा ... त्याग कर, तथा समस्त जगत के प्रति समभाव युक्त दृष्टि रख, किसी का ... प्रिय या अप्रिय करने की कामना नहीं रखनी चाहिए।

मुक्ति कोई मिथ्या वस्तु नहीं है पर सर्वोत्तम वस्तु है। परन्तु वह ... किसी से प्राप्त नहीं की जा सकती। स्त्री संयोग से निवृत्त हुआ, अपरिग्रही, तथा छोटे-बड़े विषयों से तथा असत्य, चौर्य वगैरह पापों से अपनी रक्षा करनेवाला भिक्षु ही मोक्ष की कारण रूप समाधि निःसंशय प्राप्त करता है।

—सूयगडांग सूत्र, श्रु० १, अ० १०

सच्चा साधुत्त्व

मंगलाचरण

(१) मैं सर्व प्रथम अरिहन्त भगवान को नमस्कार करता हूँ, जिन्हों ने अपने आत्मा का कार्य सिद्ध किया है और फिर विशेष कर भगवान महावीर को जो कि वर्त्तमान जिन शासन के नायक हैं और उन सब सिद्धों को जो कि अपना कार्य पूरा कर निर्वाण पहुँचे हैं और संसार में आना-जाना मिटाया है।

—सा० आ०[1] ३। दो० १-२

(२) सभी आचार्य महाराज समान रूप से गुण-रूपी रत्नों की खान हैं। मैं उनको तथा सर्व उपाध्याय और साधुओं को भाव पूर्वक वन्दन करता हूँ। —सा० आ० ३। दो० ३

१—अर्थात् 'साधु आचार ... न ढालों के लिए देखिए 'जैन तत्त्व प्रकाश' नामक

(३) इन पाँचों पदों को नत मस्तक होकर नित प्रति वंदना करो। इन पदों के गुणों को पहचान कर नित प्रति उनके गुण-ग्राम और वंदना करने से भव भव के दुःख दूर होते हैं।

—सा॰ आ॰ ३। दो॰ ३-८

विषय-आरम्भ

(१) साधु का मार्ग बड़ा संकीर्ण है वह जिस-तिस से नहीं पाला जा सकता।

(२) साधु जीवन का आरम्भ तीव्र वैराग्य से होता है और उसकी अन्त तक रक्षा भी वैराग्य से होती है।

(३) विचक्षण पुरुष विवेक विचार से जगत के पदार्थ और भोगों के स्वरूप को समझ लेता है।

(४) लोग खेत, घर, धन, संपत्ति, मणि-माणक आदि पदार्थों तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध वगैरह विषयों को और कामभोगों को अपना समझते हैं और अपने को उनका मानते हैं।

(५) परन्तु मुमुक्षु देखता है कि वास्तव में इन पदार्थों को अपना नहीं कहा जा सकता। कारण रोग, शोक आदि अनिष्ट, अप्रिय और दुःखपूर्ण प्रसंग उपस्थित होने पर दुनिया के सब कामभोग उसके उस दुःख और व्याधि को नहीं हर सकते। कभी मनुष्य को खुद को ही उन्हें छोड़ कर चल देना पड़ता है

और कभी कामभोग ही उसको छोड़ देते हैं। इसलिए वास्तविक रूप से, ये प्रिय कामभोग मनुष्य के नहीं हैं और न कोई मनुष्य उनका है। यह सोच कर मुमुक्षु उनको ममता को दूर कर उनका त्याग कर देता है।

(६) इसी प्रकार वह सोचता है कि ये माता, पिता, स्त्री, बहिन, पुत्र, पुत्रियाँ, पौत्र, पुत्र वधुएँ, मित्र, कुटुम्बी तथा परिचित भी मेरे नहीं हैं, न मैं उनका हूँ। जब रोग व्याधि आदि दुःख आ पड़ते हैं तब एक का दुःख दूसरा नहीं बंटा सकता और न एक का किया दूसरा भोग सकता है। मनुष्य अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है और अकेला ही दूसरी योनि में जाता है। हरेक का रागद्वेष, तथा हरेक का ज्ञान, चिन्तन और वेदना स्वतन्त्र होती है। कभी मनुष्य को उन्हें छोड़ कर चला जाना पड़ता है और कोई वक्त वे सम्बन्धी ही उसको छोड़ कर चले जाते हैं। इसलिए ये निकट समझे जाते हुए सम्बन्धी भी मुझ से भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ। तो फिर उनमें ममता क्यों करूँ? यह सोच कर वह उनका त्याग कर देता है

(७) इसी प्रकार वह सोचता है कि यह जो ममता की जाती है कि मेरा पग, मेरा हाथ, मेरी साथल, मेरा पेट, मेरा शीश, मेरा बल, मेरा वर्ण, मेरी कीर्ति आदि वे भी वास्तव में अपने नहीं हैं। उमर होने पर वे सब इच्छा के विरुद्ध, जीर्ण हो जाते हैं, मजबूत साँधे ढीले पड़ जाते हैं, केश सफेद हो जाते हैं, और चाहे जितना सुन्दर वर्ण तथा अवयवांगा और विविध

आहारादि से पोषा हुआ शरीर भी समय बीतने पर छोड़ देने जैसा घृणाजनक हो जाता है।

(८) ऐसा विचार कर वह मुमुक्षु सब पदार्थों की आशक्ति छोड़ तीव्र वैराग्य के साथ भिक्षाचर्या ग्रहण करता है। कोई अपने सगे सम्बन्धी और मालमिल्कत को छोड़ कर भिक्षाचर्या ग्रहण करता है, और कोई जिसके सगे सम्बन्धी या मालमिल्कत नहीं होती, वह उनकी आकांक्षा को छोड़ कर भिक्षाचर्या ग्रहण करता है।

(९) फिर सद्गुरु की शरण स्वीकार, सद्धर्म का ज्ञान पाया हुआ वह भिक्षु जगत के स्थावर और त्रस अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति और चलते फिरते सब जीवों को आत्मा के समान समझता हुआ अखण्ड अहिंसा की उपासना करता है।

(१०) वह सोचता है जैसे मुझे कोई लकड़ी आदि से पीटे या मारे अथवा मेरा कोई तिरस्कार करे तथा अन्य तरह से मुझे दुःख दे या मुझे मारे—यहाँ तक कि मेरे बाल उखाड़े तो भी मुझे दुःख होता है उसी तरह से सब जीवों को भी होता है।

(११) सुख सबको प्रिय है दुख की कोई कामना नहीं करता। सब जीने की इच्छा करते हैं कोई मरने की इच्छा नहीं करता। इस तरह गहरा विचार करता हुआ वह ध्रुव, नित्य और शास्वत अहिंसा धर्म की उपासना करता है।

(१२) अहिंसा धर्म के सम्पूर्ण पालन करने की इच्छा से, वह हिंसा, परिग्रह आदि पाँच महापापों से विरत होता है। वह स्थावर या त्रस कोई प्राणी को तीनों प्रकार से हिंसा नहीं करता। उसी प्रकार जड़ या चेतन कामभोग के पदार्थ का तीनों प्रकार से परिग्रह नहीं करता।

(१३) वह शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि विषयों की मूर्छा का त्याग करता है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, निन्दा, चुगली का भी त्याग करता है। वह संयम में अप्रीतिवाला नहीं होता, और असंयम में प्रीतिवाला नहीं होता। वह कायापूर्वक झूठ नहीं बोलता और मिथ्या सिद्धान्तों में मान्यता नहीं रखता। संक्षेप में वह भिक्षु संसार प्राप्त करानेवाले सर्व पापस्थानों से तीन करण तीन योगपूर्वक निवृत्त और विरत रहता है।

(१४) वह जानता है कि संसार में सामान्य तौर पर गृहस्थ तथा कितनेक श्रमण ब्राह्मण हिंसा परिग्रहादि युक्त होते हैं। वे तीन प्रकार से प्राणियों की हिंसा और कामभोगों के पदार्थों के परिग्रह से निवृत्त हुए नहीं होते परन्तु मुझे तो अहिंसक और अपरिग्रही होना है। मुझे अपना सन्यासी जीवन इन हिंसा परिग्रहादि युक्त गृहस्थों आदि के आधार पर ही चलाना है। कारण वे पहले भी हिंसा वगैरह से रहित या संयमी न थे और अब भी वैसे ही हैं। ऐसा विचार कर, वह भिक्षु मात्र शरीर यात्रा चलाने जितना ही उनका आधार स्वीकार, अपने मार्ग में प्रयत्नशील होता है।

(१५) भिक्षु जीवन में आहार शुद्धि की मुख्य वस्तु है। इस सम्बन्ध में भिक्षु बहुत सावधानी और चौकसी से रहता है। गृहस्थों द्वारा अपने लिये तैयार किए हुए आहार में से बचा हुआ आहार प्राप्त कर ही वह अपना निर्वाह करता है। वह जानता है कि गृहस्थ अपने लिए आहारादि तैयार करते और रखते हैं। इस तरह दूसरों द्वारा अपने लिए तैयार किया हुआ और उसमें से बचा हुआ, देनेवाले, लेनेवाले और लेने के—इन तीन प्रकार के दोषों से रहित, पवित्र, निर्जीव, भिक्षा के समय बिना कहे भिक्षा मांग कर लाया हुआ, साधु जान कर दिया हुआ तथा भंवरे की रीति से थोड़ा-थोड़ा बहुत जगह से प्राप्त भोजन ही उसके लिए ग्रहण योग्य होता है।

ऐसा भोजन भी वह भूख के शमन प्रयोजन से, मर्यादानुसार धुरे में तेल या फोड़े पर लेप लगाने की भावना से, संयम का निर्वाह हो सकता हो, तथा जिस तरह सर्प बिल में प्रवेश करता है, उस तरह स्वाद लिए बिना खाता है।

वह खाने के समय खाता है, पीने के समय पीता है, तथा पहरने, सोने आदि की सब क्रियाएँ नियमित समय पर करता है।

(१६) इस प्रकार भिक्षाचर्या करता हुआ साधु कभी इहलोक या परलोक के सुखों की कामना नहीं करता।

(१७) मर्यादा के विवेकवाला वह भिक्षु विहार करता करता जहाँ गया होता है, वहाँ स्वाभाविक रूप से धर्मोपदेश

करता है। और प्रव्रज्या लेने को तैयार हो या न हो तो भी सुनने की इच्छा रखनेवाले सबको शांति, विरति, निर्वाण, शौच, ऋजुता, मृदुता, लघुता तथा सर्व जीवों की, प्राणों की, भूतों की और सत्त्वों की अहिंसा रूप धर्म कह सुनाता है।

वह भिक्षु अन्न के लिए, जल के लिए, वस्त्र के लिए, वासस्थान के लिए अथवा अन्य कामभोगों के लिए धर्मोपदेश नहीं करता, परन्तु अपने पूर्व कर्मों के कारण ही ग्लानि पाए बिना उपदेश करता है।

(१८) इस प्रकार भगवान के वचनों पर रुचि रखते हुए सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के छः जीवनिकाय प्राणी समूह अपनी आत्म-समान माने, पांच महाव्रत को स्पर्श करे और पांच प्रकार के पापद्वारों से विरत हो वही आदर्श साधु है।

(१९) जो हमेशा अपनी दृष्टि शुद्धि रखता है; मन, वचन, और काय का संयम रखता है; ज्ञान, तप और संयम में रह तप से पूर्व कर्मों को क्षीण करने का प्रयत्न करता है वही आदर्श भिक्षु है।

(२०) जो झगड़ा, फसाद या क्लेश हो ऐसी कथा न कहे, निमित्त उपस्थित होने पर भी क्रोध न करे, इन्द्रियों को निश्चय रखे, मन शांत रखे, संयमयोग में सतत स्थिर भाव से जुड़ा हुआ रहे तथा उपशान्त रह कर किसी का भी तिरस्कार नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है।

(१५) भिक्षु जीवन में आहार शुद्धि की मुख्य वस्तु है। इस सम्बन्ध में भिक्षु बहुत सावधानी और चौकसी से रहता है। गृहस्थों द्वारा अपने लिये तैयार किए हुए आहार में से कुछ बचा आहार मांग कर ही वह अपना निर्वाह करता है। वह जानता है कि गृहस्थ अपने लिए आहारादि तैयार करते और रखते हैं। इस तरह दूसरों द्वारा अपने लिए तैयार किया हुआ और उसमें से बचा हुआ, देनेवाले, लेनेवाले और लेने के—इन तीन प्रकार के दोषों से रहित, पवित्र, निर्जीव, हिंसा के संभव बिना का, भिक्षा मांग कर लाया हुआ, साधु जान कर दिया हुआ तथा भंवरे की रीति से थोड़ा-थोड़ा बहुत जगह से प्राप्त भोजन ही उसके लिए ग्रहण योग्य होता है।

ऐसा भोजन भी वह भूख के खास प्रयोजन से, मर्यादानुसार धुरे में तेल या घाव पर लेप लगाने की भावना से, संयम का निर्वाह हो उतना ही, तथा जिस तरह सर्प बिल में प्रवेश करता है, उस तरह स्वाद लिए बिना खाता है।

वह खाने के समय खाता है, पीने के समय पीता है, तथा पहरने, सोने आदि की सब क्रियाएँ नियमित समय पर करता है।

(१६) इस प्रकार भिक्षाचर्या करता हुआ साधु कभी इहलोक या परलोक के सुखों की कामना नहीं करता।

(१७) मर्यादा के विवेकवाला वह भिक्षु विहार करता करता जहाँ गया होता है, वहाँ स्वाभाविक रूप से धर्मोपदेश

करता है। और प्रव्रज्या लेने को तैयार हो या न हो तो भी सुनने की इच्छा रखनेवाले सबको शांति, विरति, निर्वाण, शौच, ऋजुता, मृदुता, लघुता तथा सर्व जीवों की, प्राणों की, भूतों की और सत्त्वों की अहिंसा रूप धर्म कह सुनाता है।

वह भिक्षु अन्न के लिए, जल के लिए, वस्त्र के लिए, वासस्थान के लिए अथवा अन्य कामभोगों के लिए धर्मोपदेश नहीं करता, परन्तु अपने पूर्व कर्मों के कारण ही ग्लानि पाए बिना उपदेश करता है।

(१८) इस प्रकार भगवान के वचनों पर रुचि रखते हुए सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के छः जीवनिकाय प्राणी समूह अपनी आत्म-समान माने, पांच महाव्रत को स्पर्श करे और पांच प्रकार के पापद्वारों से विरत हो वही आदर्श साधु है।

(१९) जो हमेशा अपनी दृष्टि शुद्धि रखता है; मन, वचन, और काय का संयम रखता है; ज्ञान, तप और संयम में रह तप से पूर्व कर्मों को क्षीण करने का प्रयत्न करता है वही आदर्श भिक्षु है।

(२०) जो झगड़ा, फसाद या क्लेश हो ऐसी कथा न कहे, निमित उपस्थित होने पर भी क्रोध न करे, इन्द्रियों को निश्चय रखे, मन शांत रखे, संयमयोग मे सतत स्थिर भाव में जुड़ा हुआ रहे तथा उपशान्त रह कर किसी का भी तिरस्कार नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है।

(२१) जो इन्द्रियों को काँटे के समान दुःख देने वाले आक्रो वचन, प्रहार और अयोग्य ताने सहन कर सके, जहाँ भयं और प्रचंड गर्जना होती हो ऐसे भयानक स्थान में भी रह सके सुख दुःख सब समान समझ कर जो समान भाव से सहन क सके वही आदर्श भिक्षु है।

(२२) अपने शरीर से सब परिषहों को सहन कर जो भि जन्म-मरण ये ही महा भय के स्थान हैं ऐसा जान कर संय और तप में रक्त रह जन्म-मरण रूप संसार से अपनी आत्म को बचा लेता है, वही सच्चा साधु है।

(२३) जो सूत्र और उसके रहस्य को जान कर हाथ, पग वाणी और इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है, अध्यात्म रस में ही मस्त रहता है और अपनी आत्मा को समाधि में रखता है यही सच्चा साधु है।

(२४) ऐसा आदर्श भिक्षु हमेशा कल्याण मार्ग में अपनी आत्मा को स्थिर रख नश्वर और अपवित्र देहवास को छोड़ कर और जन्म मरण के बंधनों को सर्वथा छेद कर फिर कभी इस संसार में नहीं आता।

पापी साधु

(१) ऊपर में सच्चे साधुत्व की समझ है। अब मैं सूत्रों की साखों सहित कुगुरु—असाधु के चरित्र का वर्णन करता हूँ क्योंकि उन्हें जाने बिना असाधु को पहचाना नहीं जा सकता।

—सा॰ आ॰[1] ३। दो॰ ४

(२) खरा रुपया और खोटा रुपया एक ही नोली में रहता है। जो खरे रुपये और खोटे रुपये की पहचान नहीं जानता वह भोला मनुष्य दोनों को अलग-अलग किस तरह कर सकता है? उसी तरह लोक में साधु असाधु एक वेष में रहते हैं। भोले लोग आचार को नहीं जानने से उनको कैसे अलग-अलग कर सकते हैं? इस लिए मैं आचार को कहता हूँ जिससे कि

१—अर्थात् 'साधु आचार की ढाल'। इन ढालों के लिए देखिए—"जैन तत्त्व प्रकाश" नामक पुस्तक पृ॰ १२३-१५८

निर्मल बुद्धि वाले दोनों की चालों को देख कर कुसाधुओं की संगत को दूर कर साधुओं के पगों की वंदना कर सकें।

—श्र० आ०[1] ५। दो० १—३

(३) जिस तरह गधा सिंह की खाल पहिन कर दूसरों के खेत को चर जाता है उसी तरह से साधु वेष धारी जैन धर्म के विगडायल दूसरों के समकित और धर्म को चर लेते हैं। इन छद्म वेपियों को पहचानना जरूरी होने से मैं उनकी चालों का वर्णन करता हूँ। —श्र० आ० ६। दो० १—२

(४) मैं साधु का समुचय आचार बताता हूँ। किसी को राग द्वेप नहीं लाना चाहिये। मेरी बातों को सुनकर हृदय में विचार करना, झूठी खींचाताण मत करना। —सा० आ० २।१८

(५) मैं जो कुछ कहूँगा वह सूत्रों के न्याय से कहूँगा। सूत्रों के आधार पर जो बात कहूँगा उसको निन्दा मत समझना। सूत्रों पर दृष्टि डाल साँच व झूठ का निर्णय करना।

—सा० आ० ३।८८,४।१२

(६) भगवान की आज्ञा है कि संयम में स्थिर चित्त मुनि कभी भी अकल्पनीक आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, स्थानक, शय्या आदि संयम के साधनों को ग्रहण न करें।[2]

—सा० आ० ३।८

१—अर्थात् 'श्रद्धा आचार की ढाल'। इनके लिए देखिए "श्रद्धा-आचार की चौपई"

२—दश वैकालिक सूत्र अ० ६ गा० ४७,४८

(क) औद्देशिक

(७) साधु के लिए बनाए गए—औद्देशिक आहार, वस्त्र, कंबल, रजोहरण, स्थानक, शय्या, आसन आदि सेवन करने योग्य नहीं, इन औद्देशिक वस्तुओं को अकल्प्य समझ कर साधु उनको ग्रहण या सेवन न करे।

(८) जो औद्देशिक आहार तथा वस्त्रादि उपधि का सेवन करता है वह—

(१) पापारम्भ का भागी होता है;

(२) आधा कर्मी दोष का सेवन करनेवाला होता है;

(३) अणाचार का सेवन करता है;[1] —सा० आ० १।१

(४) वह निर्ग्रन्थ-भाव—साधुता से भ्रष्ट होता है;[2]

—सा० आ० १।२

(५) वह दुर्गति को प्राप्त करता है;[3] —सा० आ० १।३

(६) वह छः ही काय के जीवों का आरम्भ करनेवाला होता है;[4]

(७) भगवान की आज्ञा का लोपक है;

(८) बड़े दोष का सेवन करता है, भगवान ने उसे चोर कहा है;[5] —सा० आ० १।५

१—दश वैकालिक सूत्र अ० ३ गा० २

२—दश वैकालिक सूत्र अ० ६ गा० ७

३—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २० गा० ४७

४—आचाराङ्ग सूत्र अ० २ उद्देशक ६ गा० २

५,—आचाराङ्ग सूत्र, श्रुतस्कंध, १ अ० ८, उ० १

(९) वह अधोगति जानेवाला और अनन्त संसारी है;[1]

—सा० आ० ११६

(१०) वह आचार भ्रष्ट, कुशील तथा बिना अन्न के तुस की तरह नि.सार होकर विनाश पाता है;[2]

(११) वह चौमासिक दण्ड का भागी होता है;[3]

—सा० आ० ११८

(१२) वह अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा का अनुमोदन करता है;[4]

(१३) भारी कर्मी जीव है, उसे भगवान के वचनों की सुध नहीं है वह जिन धर्म को नहीं पा सकता। - सा० आ० ११२

(१४) सबल दोष का भागी होता है। —सा० आ० ११३

(९) जो भागल और केवल भेषधारी साधु होते हैं वे ही औदेशिक उपधि का सेवन करते हैं; सुसंयमी साधु सदा इनसे बचे रहते हैं।

(१०) परतु कई वेषधारी साधु भगवान की इस आज्ञा पर पैर देकर चलते हैं; वे साधुओं के उतरने के निमित्त बनाए हुए स्थानकों में रहकर भगवान की अवज्ञा करते हैं।

(११) भगवान की आज्ञा है कि साधु गुर घर न बनावे और न दूसरों से बनवावे। स्थूल और सूक्ष्म, हलते-चलते और

१—भगवती सूत्र, शतक, १ उद्देशक, ९

२—सूत्रगडांग सूत्र, श्रुतस्कंध, १ अ० ७

३—निशीथ सूत्र, उद्देशक, ५

४—दश वैकालिक सूत्र अ० ६ गा० ४९

स्थिर जीवों की हिंसा होने से संयमी मुनि को घर बंधाने की क्रिया छोड़ देनी चाहिये।[1]

(१२) ऐसा होने पर भी वे मठाधीशों की तरह स्थानकों में रहते हैं और उन्हें यह कहते जरा भी संकोच नहीं होता कि वे सच्चे अहिंसा व्रत-धारी साधु हैं।

(१३) जो साधु आधाकर्मी स्थानक में रहता है वह अहिंसा महाव्रत से पतित होता है। भगवती सूत्र में उसे दया रहित कहा गया है। वह मर कर अनन्त जन्म मरण करता है।

—सा० आ० २।१

(१४) अपने निमित्त बनाए गये स्थानक या उपासरे में रह कर भी जो साधु यह कहता है कि मुझे सर्व सावद्य कार्यों का त्याग है वह दूसरे महाव्रत से गिरता है। ऐसा कहना कि यह मेरे लिए नहीं बनाया गया कपट पूर्ण झूठ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। —सा० आ० २।२

(१५) अपने निमित्त बनाए हुए स्थानक में रहनेवाले साधु को स्थानक बनाने में जिन जीवों की हत्या होती है, उनके शरीर की चोरी लगती है तथा अरिहन्त भगवान की आज्ञा के लोप करने से भी तीसरे महाव्रत का भंग होता है।—सा० आ० २।३

(१६) जो स्थानक को अपना कर रखते हैं उनके मठधारी की तरह अपने स्थानक से ममता लगी रहती है। इस तरह पांचवां महाव्रत उनसे दूर हो जाता है। —सा० आ० २।४

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३५ गा० ८,९

(१७) आचार भ्रष्ट-शील रहित होने से चौथे और छट्ठे महाव्रत का लोप होता है। —सा० आ० २।५

(१८) जो छः काय के जीवों में से एक भी काय के आरंभ में प्रवृत्त होता है वह छः काय का आरम्भ करनेवाला है, उसी तरह जो एक व्रतभंग करता है वह छवों ही व्रतों को भंग करने वाला है। —सा० आ० २।६

(१९) इस तरह जो बड़े-बड़े दोषों का सेवन करते हैं उन्हें विचक्षण किस तरह संयमी मुनि मान सकते हैं ?—सा० आ० २।७

(२०) जिन आगम में ५२ अनाचार और ४२ दोष बतलाए गये हैं इन दोषों के सेवन से और सेवन कराने से महाव्रतों का नाश होता है। —सा० आ० २।८

(२१) कोई स्थानक के निमित्त धन देता है तो उसकी प्रशंसा कर जीवों की घात मत कराओ। —सा० आ० २।१०

(२२) स्थानक कराने में धर्म बतला कर भोलों को मत भरमाओं; अपने रहने के लिए जगह बनवाने के लिए क्यों जीवों को मरवाते हो ? —सा० आ० २।११

(२३) जो साधु के निमित्त स्थानक बनाता है, उसको बुरे-से-बुरे फल मिलेंगे। जो साधु ऐसे स्थानक में रहता है वह अपने साधुपन को डूबोता है। —सा० आ० २।१२

(२४) जो अपने निमित्त बनाए हुए या बढ़ाए हुए उपासरे में रहता है उस साधु को वजरक्रिया लगती है। ऐसा साधु नहीं कहा जा सकता। —सा० आ० ६।१

(२५) आचारांग दूजे श्रुतस्कन्ध में औदेशिक उपासरे में रहने में महादोष बतलाया है। भगवान के वचनों को माना जाय तो ऐसे साधु में साधुपना नहीं है।

—सा० आ० ६।२

(२६) साधु के निमित्त यदि कोई गृहस्थ उपासरा बनावे या उसे छावे लीपे और यदि साधु उसमें रहे तो उसे सावद्य कार्य की क्रिया लगती है। —सा० आ० ६।३

(२७) उसे भाव से गृहस्थ कहा है। इसकी साख आचारांग भरता है। भगवान ने उसको जरा भी काण न कर उसे वेषधारी कहा है। —सा० आ० ६।४

(२८) साधु के लिए बांसादि बांधे गये हों या भीत आदि का चेजा किया गया हो या किसी प्रकार की छावनी या लिपाई कर बसती बनाई गई हो उस बसती में यदि साधु उतरे तो उसमें साधुपन का अभाव समझना चाहिए। ऐसे साधु के लिए निशीथ के पांचवें उद्देशक में मासिक दण्ड का विधान किया है।

— सा० आ० ६।१०

(२९) जो साधु थापित स्थानक का भोग करता है, वह महाव्रतों का भङ्ग करता है वह साधु भाव से रहित है, उसको गुणहीन वेषधारी समझो। —सा० आ० ६।१२

(३०) जो साधु स्थापित स्थानक में वास करता है वह महा दोष का भागी होता है और जो गृहस्थ साधु निमित्त स्थानक आदि बनाता है वह दुर्गति को जाता है।

(३१) जो साधु के निमित्त अनेक स्थावर त्रस जीवों का घात करता है उसकी खोटी गति होती है और अकल के सामने पड़दा आ गया है; जगह लीपने और दड़ बंध करने में त्रस जीवों की, श्वास उश्वास रुक कर, मृत्यु होने से महामोहनीय कर्म का बंध होता है—ऐसा दशाश्रुत स्कंध सूत्र में कहा है।

—सा० आ० १।१०—१२

(३२) जो साधु के निमित्त स्थानक बनाने के लिए धन देने में धर्म समझता है उसके अठारहवां पाप (मिथ्या दर्शन) लगता है। जिससे उसे महा संताप होगा। उतने जीवों का प्राण लेने का पाप तो उसके है ही।

—सा० आ० २।१३

(ख) क्रीतकृत दोष

(३३) साधु के लिए खरीद किए गये आहार, वस्त्र, कंबल, रजोहरण, स्थानक, शय्या, आसन आदि सदोष हैं। इन क्रीत वस्तुओं को अकल्प्य समझ कर साधु उनका सेवन कभी भी न करे—ऐसी भगवान की आज्ञा है।

(३४) जो साधु अपने लिए खरीदी हुई वस्तुओं का सेवन करता है वह :—

(१) अनाचरणीय का आचारण करता है;[१]

—सा० आ० १।२४

---

[१] ... वैकालिक सूत्र, अ० ३, गा० २

(२) संयम धर्म—साधु भाव से पतित है;[1]

— सा० आ० ११२५

(३) नर्क को जाता है;[2] —सा० आ० ११२६

(४) महान दोष का सेवन करता है भगवान ने उसे चोर कहा है;[3] —सा० आ० ११२७

(५) भगवान की आज्ञा का लोपक है;

(६) सुमति, गुप्ति और महाव्रत को भंग करता है—वह व्रत रहित नंगा होता है; —सा० आ० ११२८

(७) वह चौमासिक प्रायश्चित्त का दोषी होता है;

(८) वह पापारम्भ का भागी होता है;

(९) वह आचार-भ्रष्ट, कुशील तथा अन्न रहित केवल तुस्स की तरह निःसार होकर विनाश को प्राप्त होता है;[4]

(१०) वह अपरोक्ष रूप से हिंसा को प्रेरणा देता है;[5]

(११) वह सबल दोष का सेवी होता है ।[6]

— सा० आ० ११३०

१—दश वैकालिक सूत्र, अ० ६, गा० ७

२—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २०, गा० ४७

३—आचाराङ्ग सूत्र, श्रु० १, अ० ८, उ० १

४—सूयगडाग सूत्र, श्रु० १, अ ७

५—दश वैकालिक सूत्र, अ० ६, गा० ४९

६—दशा श्रुतस्कंध, दशा २, गा० ४

(३५) अचित वस्तु को मोल लिराने से सुमति, गुप्ति का भंग होता है और पाँचों ही महाव्रत दूर होते हैं। वस्तु मोल लिराने से चौमासी दण्ड आता है। —सा० आ० ३।५

(३६) जो पुस्तक, पात्र, उपासरादिक नाम बतला-बतला कर मोल लिराता है और अच्छे-बुरे बतलाता है वह साधु गृहस्थ का काम करता है। —सा० आ० ३।७

(३७) ग्राहक को कइया कहा जाता है, कुगुरु बीच में दलाल होते हैं, बेचने वाले को वाणिया कहा जाता है। तीनों का एक ही हवाल है। —सा० आ० ३।८

क्रय विक्रय की प्रवृत्ति यह महा दोष है—ऐसा उत्तराध्ययन में कहा है। ऐसे आचरण वाले को साधु नहीं कहा है।
—सा० आ० ३।९

(३८) जो भागल और केवल वेषधारी होते हैं वे ही अपने लिए खरीद की हुई उपधि का सेवन करते हैं सुसंयमी साधु सदा इस दोष से दूर रहता है।

(ग) नित्यपिंड दोष

(३९) रोज-रोज एक ही घर से आहार आदि की भिक्षा करना, अकल्पनीय कार्य है; साधु रोज-रोज एक ही घर की भिक्षा न करे ऐसी भगवान की आज्ञा है।

(४०) जो साधु रोज-रोज एक ही घर की गोचरी करता है, वह

(१) अनाचारी है।[1] —सा० आ० १।३२

(२) निर्ग्रन्थ भाव से पतित होता है;[2] —सा०आ० १।३

(३) अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा का अनुमोदन करता है;[3]

(४) पाप कर दुर्गति में जाता है;[4] —सा० आ० १।३४

(५) वह महान दोषी है भगवान ने उसे चोर कहा है;[5]

—सा० आ० १।३५

(६) चौमासी प्रायश्चित का भागी होता है;

(७) भगवान की आज्ञा का लोपक है;

(८) पापारम्भ करता है;

(९) वह आचार-भ्रष्ट, कुशील तथा अन्न रहित केवल तुष की तरह निःसार होकर विनाश को प्राप्त होता है;[6]

(१०) वह सबल दोष का भागी होता है।[7] - सा० आ० १।३०

(४१) जो भागल और केवल वेषधारी होते हैं वे ही रोज रोज एक घर का आहार करते है सुसयमी साधु सदा इस दोष से दूर रहते हैं।

१—दसवैकालिक सूत्र, अ० ३ गा० २

२—दसवैकालिक सूत्र, अ० ६, गा० ७

३—दसवैकालिक सूत्र, अ० ६, गा० ४९

४—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २०, गा० ४७

५—आचाराङ्ग सूत्र श्रु० १, अ० ८, उ० १

६—सूयगडांग सूत्र, श्रु० १, अ० ७

७—दशा श्रुत स्कंध, दशा० २, गा० ४

(१७) आचार भ्रष्ट-शील रहित होने से चौथे और ह
महाव्रत का लोप होता है। —सा० आ० २।५

(१८) जो छः काय के जीवों में से एक भी काय के आ
में प्रवृत्त होता है वह छः काय का आरम्भ करनेवाला है, उ
तरह जो एक व्रतभंग करता है वह छवों ही व्रतों को भंग क
वाला है। —सा० आ० २।६

(१९) इस तरह जो बड़े-बड़े दोषों का सेवन करते हैं उ
विचक्षण किस तरह संयमी मुनि मान सकते हैं?—सा० आ० २

(२०) जिन आगम में ५२ अनाचार और ४२ दो
बतलाए गये हैं इन दोषों के सेवन से और सेवन कराने
महाव्रतों का नाश होता है। —सा० आ० २।८

(२१) कोई स्थानक के निमित्त धन देता है तो उसक
प्रशंसा कर जीवों की घात मत कराओ। —सा० आ० २।१

(२२) स्थानक कराने में धर्म बतला कर भोलों को भर
भरमाओ; अपने रहने के लिए जगह बनवाने के लिए क्यों जीवो
को मरवाते हो? —सा० आ० २।११

(२३) जो साधु के निमित्त स्थानक बनाता है, उसको बुरे-
से-बुरे फल मिलेंगे। जो साधु ऐसे स्थानक में रहता है वह अपने
साधुपन को डुबोता है। —सा० आ० २।१२

(२४) जो अपने निमित्त बनाए हुए या बढ़ाए हुए उपासरे
में रहता है उस साधु को वजरक्रिया लगती है। ऐसा साधु
साधु नहीं कहा जा सकता। —सा० आ० ६।१

(१) अनाचारी है।[1] —सा० आ० १।३२

(२) निर्ग्रन्थ भाव से पतित होता है;[2] —सा०आ० १।३३

(३) अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा का अनुमोदन करता है;[3]

(४) पाप कर दुर्गति में जाता है;[4] —सा० आ० १।३४

(५) वह महान दोषी है भगवान ने उसे चोर कहा है;[5]

—सा० आ० १।३५

(६) चौमासी प्रायश्चित का भागी होता है;

(७) भगवान की आज्ञा का लोपक है;

(८) पापारम्भ करता है;

(९) वह आचार-भ्रष्ट, कुशील तथा अन्न रहित केवल तुष की तरह निःसार होकर विनाश को प्राप्त होता है;[6]

(१०) वह सबल दोष का भागी होता है।[7] - सा० आ० १।३०

(४१) जो भागल और केवल वेषधारी होते हैं वे ही रोज रोज एक घर का आहार करते हैं सुसंयमी साधु सदा इस दोष से दूर रहते हैं।

१—दसवैकालिक सूत्र, अ० ३ गा० २

२—दसवैकालिक सूत्र, अ० ६, गा० ७

३—दसवैकालिक सूत्र, अ० ६, गा० ४९

४—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २०, गा० ४७

५—आचाराङ्ग सूत्र श्रु० १, अ० ८, उ० १

६—सूयगडांग सूत्र, श्रु० १, अ० ७

७—दशा श्रुत स्कंध, दशा० २, गा० ४

गृहस्थ के बर्तनों को काम में लाने में दोष

(४२) गर्मी की ऋतु में गृहस्थ के बर्तनों में जल डालना—उसे ठण्डा करना और मन माने जब इन बर्तनों को वापिस सौंपना—यह कार्य भगवान की आज्ञा सम्मत नहीं है। गृहस्थ के बर्तनों में अन्नादि का भोजन करने वाला साधु निर्ग्रन्थ भाव से भ्रष्ट होता है—ऐसा दस वैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में कहा है। इसलिए उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मत समझो।—सा० आ० ४।३०-३१

(४३) औषधादि वहर कर चीजें वासी रखना, उन्हें रात के समय किसी गृहस्थ के यहां रख आना और सुबह होने पर उसके यहां से उन्हें ले आना—इस प्रकार रात वासी चीजें रखना और अपनी चीजों को गृहस्थों को सौंपना—ये दो बड़े दोष हैं। इससे उपयोग में भी खामी आती है—जो तीसरा दोष है। पूछने पर यह कहते हैं कि हम ने कोई चीज वासी नहीं रखी—यह प्रत्यक्ष झूठ है। औषध आदि को वासी रखने से व्रतों का भंग होता है। दस वैकालिक के तीजे अध्ययन में इसे अनाचार कहा है। इसलिए उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मत समझो। —सा० आ० ४।२६-२९

गृहस्थ के मस्तक पर हाथ रखना

(४४) जब गृहस्थ आकर वंदना करे तो उसके मस्तक पर हाथ रखना—यह प्रत्यक्ष ही कुगुरु की चाल है। जो गृहस्थ के

मस्तक पर हाथ रखता है, उसे गृहस्थ के बराबर समझो। ज
गृहस्थ के मस्तक पर हाथ रखता है, वह गृहस्थ से संभोग करत
है, उसके योगों में रोग लग गया है उसे साधु कैसे समझा ज
सकता है ? ऐसा करना प्रत्यक्ष भगवान की आज्ञा के विपरी
है—यह दस वैकालिक, आचारांग और निशीथ सूत्र से मालू
किया जा सकता है। ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो

—सा० आ० ४।४९-५१

अयोग्य दीक्षा

(४५) जो चोर, ठग और पासीगर की तरह भोले लोकों को उचका कर, उन्हें किसी दूसरी जगह ले जा कर मूंडते हैं, जो आहार-वस्त्रादि का लोभ-लालच दिखा कर किसी को साधु का वेष पहनाते हैं—उन्हें साधु मत समझो। —सा० आ० ४।५३-५४

जो इस प्रकार चेले कर अपने मत को बढ़ाते हैं, वे गुणहीन वेष को प्रोत्साहन देते हैं। वे साधु के सांग को रच कर कर्मों से विशेष भारी होते हैं। —सा० आ० ४।५५

जो इस प्रकार मूंड-मूंड कर इकट्ठे किए गये हैं उनसे साधु आचार किस प्रकार पलेगा। वे तो भूख तृषा के परिषह से घबरा कर अशुद्ध आहार लेंगे। —सा० आ० ४।५६

जिसे बलवान बांध कर जबरदस्ती जला देते हैं उस सती को अगर कोई वंदना कर कहे कि हे सती माता ! मेरी तेजरा बुखार को मिटाओ तो वह क्या बुखार मिटावेगी ? उसी तरह जो

गृहस्थ के बर्तनों को काम में लाने में दोष

(४२) गर्मी की ऋतु में गृहस्थ के बर्तनों में जल ठारना—उसे ठण्डा करना और मन माने जब इन बर्तनों को वापिस सौंप देना—यह कार्य भगवान की आज्ञा सम्मत नहीं है। गृहस्थ के बर्तनों में अन्नादि का भोजन करने वाला साधु निर्ग्रन्थ भाव से भ्रष्ट होता है—ऐसा दस वैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में कहा है। इसलिए उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मत समझो।—सा० आ० ४।३०-३१

(४३) औषधादि वहर कर चीजें बासी रखना, उन्हें रात के समय किसी गृहस्थ के यहां रख आना और सुबह होने पर उसके यहां से उन्हें ले आना—इस प्रकार रात बासी चीजें रखना और अपनी चीजों को गृहस्थों को सौंपना—ये दो बड़े दोष हैं। इससे उपयोग में भी खामी आती है—जो तीसरा दोष है। पूछने पर वे यह कहते हैं कि हम ने कोई चीज बासी नहीं रखी—यह प्रत्यक्ष झूठ है। औषध आदि को बासी रखने से व्रतों का भंग होता है। दस वैकालिक के तीजे अध्ययन में इसे अनाचार कहा है। इसलिए उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मत समझो। —सा० आ० ४।३६-३९

गृहस्थ के मस्तक पर हाथ रखना

(४४) जब गृहस्थ आकर वंदना करे तो उसके मस्तक पर हाथ रखना—यह प्रत्यक्ष ही कुगुरु की चाल है। जो गृहस्थ के

किसी को साधु नहीं समझना चाहिए। ऐसा नियम कराने से ममता लगती है, गृहस्थ से परिचय बढ़ता है। इसका दण्ड भगवान ने निशीथ के चौथे उद्देशक में कहा है।

—सा० आ० ३।१७-१९

ये जो गृहस्थ से रुपये दिलवा-दिलवा कर चेलों को मूंडते हैं उन्हें साधु मत समझो। इस प्रकार चेले करने की रीत बिलकुल उलटी है। अयोग्य को दीक्षा देना भगवान की आज्ञा के बाहर है। ऐसा कार्य करने वाले बिलकुल विटल—भ्रष्ट हैं।

—सा० आ० ३।२२-२४, ध० आ० ११२।१

संदेश भेजना

(४६) गृहस्थ के साथ संदेश कहलाने से उसके साथ सभोग होता है। जो इस प्रकार संदेश कहलाते हैं, उनको साधु किस प्रकार समझा जाय ? उनके योगों को रोग लगा समझो।

—सा० आ० ३।२७

गांव-नगर समाचार भेजने के लिए जो संकेत कर गृहस्थों को बुला कर उन्हें खोल-खोल कर समाचार बता कागद-पत्र लिखवाते हैं, उन्हें साधु मत समझो। —ध० आ० ११।२५, सा० आ० ३।१८

गृहस्थ से सेवा लेने वाले साधु को भगवान ने अनाचारी कहा है। ऐसा दसवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में साफ लिखा है। बुद्धिमान इस पर विचार करें। —ध० आ० ११।२६

रोटी के लिए साधु-वेश को धारण करता है, उसे यदि कोई कहे कि तुम साधु आचार का पालन करो तो वह क्या खाक पालन करेगा? वीर वर्धमान भगवान ने चारित्र को महा कठिन कहा है।

आगमों के हवालों से

अनल अयोग्य को दीक्षा देने से चारित्र का भंग होता है। इसके लिए निशीथ के ग्यारहवें उद्देशक में चौमासिक दण्ड बतलाया गया है। —सा० आ० ४।५७

जो विवेक-विकल बालक-वृद्धों को जिन्हें नव पदार्थ का जरा भी बोध नहीं है भेष पहराता है उसे साधु मत समझो।

— ४।५८, अ० आ० ११।२१-२२

शिष्य करना हो तो उसे ही करना चाहिए जो चतुर और बुद्धिमान हो तथा जिसे नव पदार्थ का ज्ञान हो, नहीं तो एकला ही रहना चाहिए—ऐसा उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन में कहा है। जो इसके विपरीत दीक्षा देता है उसे साधु मत समझो। —सा० आ० ४।५९

जो केवल पर निन्दा में डूबे रहते हैं जिनके मन में जरा भी सन्तोष नहीं है, उनमें तेरह दोष हैं—ऐसा वीर भगवान ने दसवें अंग में कहा है। जो यह कहते हैं कि यदि दीक्षा लो तो मेरे हाथ से लेना, दूसरों के हाथ से मत लेना तथा जो इस प्रकार के सौगन्ध दिला देते हैं वे प्रत्यक्ष उल्टी चाल चलते हैं ऐसी चाल से

नहीं आ रही हों उनकी पडिहेलना नहीं करने में दोष नहीं है—परन्तु ऐसा कहना भी आगम-संगत नहीं है।

(५) साधु को अपनी प्रत्येक उपधि का पडिलेहन करना चाहिए—ऐसी भगवान की आज्ञा है। जो अपनी कोई एक उपधि की भी पडिलेहना नहीं करता उसके लिए भगवान ने मासिक दण्ड बतलाया है।[1]

(६) साधु को रोज-रोज पडिलेहना करनी चाहिए—ऐसा भगवान ने दसवैकालिक, आवश्यक, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में स्थान-स्थान पर कहा है।

(७) पुस्तकों के ढेर बिना पडिलेहन किए रखने से उनमें जीवों के जाल जम जाते हैं, चौमासे में नीलण-फूलण आ जाती है और इस प्रकार अनेक जीवों का नाश होता है।

(८) बिना पडिलेही पुस्तकों में चींटी, कुंथवे आदि जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। इस प्रकार अनन्त जीवों का नाश होता है।

(९) इस तरह पुस्तकें बिना पडिलेही रखने से पूरा पाप लगता है। जो पाप नहीं मानते, उनकी समझ उल्टी है। वे बिना समझे झूठी पक्षपात करते हैं।

(१०) जो पुस्तकों को बिना प्रतिलेखन रखते हैं उनके सदा असमाधि रहती है, अनन्त जीवों की घात करने से उन्हें साधु नहीं कहा जा सकता।

---

१ – निशीथ सूत्र द्वितीय उद्देशक

गृहस्थ का आदर करना

(४७) किसी घर गृहस्थ को आता हुआ देख कर जो हा[illegible]
भाव से हर्षित होते हैं और उनके लिए आसन आदि बिछाने की
आमना करते हैं उनको साधु मत समझो। —सा० आ० ३।१८

जो साधु गृहस्थ को आने—जाने, बैठने—उठने के लिए
कहता है, और ऐसा करने के लिए जगह बतलाता है वह साधु
गृहस्थ के बराबर होता है ऐसी चाल से किसी को साधु मत
समझो। —सा० आ० ३।२९

उपधि-पडिलेहण

(४८) (१) कई साधु पुस्तकों के ढेर-के-ढेर अपने पास रखते
हैं। जब उनसे कोई प्रश्न करता है कि इतनी पुस्तकों की पडिलेहना
किस तरह होती है तब वे उत्तर देते हैं कि पुस्तक-पडिलेहन की
बात किसी सूत्र में नहीं आई है, अतः नहीं पडिलेहन में कोई दोष
नहीं है।

(२) ऐसा उत्तर देना मिथ्या बोलना है। जो
आचार का पालन नहीं कर सकते वे अपना दोष छिपाने के
लिए ऐसा कहते हैं।

(३) जो पुस्तकों के नहीं पडिलेहन में दोष और
पाप नहीं मानते और कहते हैं कि इसमें कोई हिंसा नहीं वे
झूठी बात को मानते हैं।

(४) वे यह भी कहते हैं कि जो चीजें हम उपयोग
में लाते हैं, उनकी पडिलेहना करते हैं; जो चीजें उपयोग में

नहीं आ रही हों उनकी पडिलेहना नहीं करने में दोष नहीं है—परन्तु ऐसा कहना भी आगम-संगत नहीं है।

(५) साधु को अपनी प्रत्येक उपधि का पडिलेहन करना चाहिए—ऐसी भगवान की आज्ञा है। जो अपनी कोई एक उपधि की भी पडिलेहना नहीं करता उसके लिए भगवान ने मासिक दण्ड बतलाया है।[1]

(६) साधु को रोज-रोज पडिलेहना करनी चाहिए—ऐसा भगवान ने दसवैकालिक, आवश्यक, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में स्थान-स्थान पर कहा है।

(७) पुस्तकों के ढेर बिना पडिलेहन किए रखने से उनमें जीवों के जाल जम जाते हैं, चौमासे में नीलण-फूलण आ जाती है और इस प्रकार अनेक जीवों का नाश होता है।

(८) बिना पडिलेही पुस्तकों में चींटी, कुथवे आदि जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। इस प्रकार अनन्त जीवों का नाश होता है।

(९) इस तरह पुस्तकें बिना पडिलेही रखने से पूरा पाप लगता है। जो पाप नहीं मानते, उनकी समझ उलटी है। वे बिना समझे झूठी पक्षपात करते हैं।

(१०) जो पुस्तकों को बिना प्रतिलेखन रखते हैं उनके सदा असमाधि रहती है, अनन्त जीवों की घात करने से उन्हें साधु नहीं कहा जा सकता।

---

१ – निशीथ सूत्र द्वितीय उद्देशक

(११) मुनि अपने वस्त्र, पात्र, बिस्तर, पाट-बाजोट तथा शास्त्र आदि पडिलेहन करने में कभी चूक न करें।

— प्र० आ० पृ० ११६-१२६

अशुद्ध बहरना

(४६) जो यह कह कर कि कारण पड़ने पर अशुद्ध बहरा जा सकता है—अशुद्ध बहरने की थाप करते हैं और दातार को बहुत निर्जरा और अल्प पाप बतलाते हैं उनको साधु मत समझो।

—सा० आ० ६।२६

जो दुखम आरे का नाम ले लेकर हीनाचार की थापना करते और कहते हैं कि इस काल के लिए यही आचार है विशेष दोषों से बचाव नहीं हो सकता, उनको साधु किस तरह माना जाय? —सा० आ० ६।२८

आचाराङ्ग सूत्र में कहा है कि जो खुद तो आचार का पालन नहीं करता और जो आचार का पालन करता है उससे द्वेष करता है—वह दुहरा मूर्ख है। उसे साधु किस तरह माना जाय? —सा० आ० ६।२९

गृहस्थ को उपाधि भोलाना

(५०) गृहस्थ को उपधि भोलाना—यह साधु का आचार नहीं है। जो ऐसा करते हैं वे जिन प्रवचन का पालन नहीं करते और मुक्ति मार्ग से भिन्न मार्ग को पकड़े हुए हैं, उन्हें साधु किस तरह माना जा सकता है? —सा० आ० ६।२१

गृहस्थ भोलाई हुई उपधि की देख भाल करता है। इस तरह जो साधु गृहस्थ को अपना सेवक बनाता है उसे साधु कैसे माना जाय? वह तो प्रत्यक्ष साधु भाव से दूर है।

—सा० आ० ६।२०

जो वस्त्र पात्र, पुस्तकें आदि उपधियाँ गृहस्थ के घर रख कर विहार करते हैं और उनकी भोलावन गृहस्थ को दे जाते हैं, उन्होंने भगवान के प्रवचनों को कुचल दिया है। उन्हें ऐसे आचारण से साधु कैसे माना जाय?

—सा० आ० ४।२१

गृहस्थ इन उपधियों को इधर-उधर करता है जिससे साधु और श्रावक दोनों को हिंसा होती है। जो गृहस्थ से बोझ उठवाता है वह साधु कैसे है? सा० आ० ४।२२ निशीथ के बारहवें उद्देशक में इससे चौमासी चारित्र का छेद कहा है।

—सा० आ० ४।२३

पुस्तकें गृहस्थ के घर बिना पडिलेहन के रहती हैं। ऐसे हीन-आचार से साधुपन कैसे रहेगा—यह सूत्रों के वचनों से विचारो। ऐसी चालों से किसी को साधु मत समझो।

—सा० आ० ४।२४

जो एक दिन भी अपनी उपधि को बिना पडिलेहन के रखता है, उसे निशीथ सूत्र के दूसरे उद्देशक में मासिक दण्ड कहा है; फिर इस प्रकार गृहस्थ के यहाँ उपधि रख कर जाने वाले साधु को कैसे साधु माना जाय? —सा० आ० ४।२५

गृहस्थ का क्षेम कुशल पूछना

(८१) जो गृहस्थ के क्षेम कुशल पूछते पुछवाते हैं वे अव्रत को सेवन करते हैं। उन्हें दसवैकालिक में अनाचारी कहा है—उनके पाँचों महाव्रत भङ्ग होते हैं, उनको साधु किस तरह माना जाय ?

—सा॰ आ॰ ६।२३

आर्थिक सहायता दिलवाना

(८२) माता-पिता, सगे-स्नेहियों को गरीब देख कर उन्हें धन धान्य आदि परिग्रह दिलवाना यह प्रत्यक्ष कुगुरु—असाधु की चाल है। ऐसे आचार वाले को साधु मत जानो। —सा॰ आ॰ ४।२६

आमना कर रुपये दिलवाने से पाँचवाँ व्रत भंग होता है और पूछने पर जो कपट पूर्वक झूठ बोलते हैं उन्होंने साधु वेष को बिगाड़ा है। ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो।

—सा॰ आ॰ ४।२७

जो न्यातीलों को धन दिलवाता है उसके हृदय से उनका मोह दूर नहीं हुआ है। जो साधु उनकी सार सम्भाल करता है, निश्चय ही वह साधु नहीं है। ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो। —सा॰ आ॰ ४।२८

स्थानांग सूत्र के तीजे स्थानक में परिग्रह को अनर्थ की मूल कहा है। जो साधु उसकी दलाली करता है वह पूरा अज्ञानी और मूर्ख है। ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो।

सा॰ आ॰ ४।२९

श्रावक की अनुकम्पा लाकर उसको द्रव्य दिलवाते हैं, उनका दूसरे करण से पाँचवाँ व्रत भंग होता है और तीसरे करण से पाँचों ही व्रत भंग होते है। ऐसे आचार वाले को साधु कैसे समझा जाय ?

सामने लाया हुआ वहरना

(५३) जीमनवार से कोई गृहस्थ धोवण, जल और मांड अपने घर लाकर फिर उनको साधुओं को वहराता है, वह साधुपन को भ्रिष्ट करता है।

जो साधु जान कर यह वहराता है, उसने मुनि आचार का लोप कर दिया है। वह प्रत्यक्ष सामने लाया हुआ लेता है उसे अणगार कैसे कहा जा सकता है ? ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो। —सा० आ० ४।३-४

जो सामने लाया हुआं आहार लेता है, वह प्रत्यक्ष अणाचार सेवी है—यह दसवैकालिक में आंख उघाड़ कर देख सकते हो। ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो। —सा० आ० ४।५

शय्यातर पिण्ड-सेवन

जो शय्यातर पिण्ड को ग्रहण करते हैं और दोष छिपाने के लिए कपट से काम लेकर मालिक को छोड़ अन्य की आज्ञा लेते हैं—वे सरस आहारादिक के लपंटी हैं। उन्हें साधु किस तरह समझा जाया ? —सा० आ० ६।५

उनको सबल दोष लगता है, जिसका निशीथ में गहरा दंड कहा है। ऐसों को दसवैकालिक में अणाचारी कहा गया है।

जिसने भगवान की शिक्षा को ग्रहण नहीं किया है, उसे साधु कैसे माना जाय ? —सा० आ० ६।६

गृहस्थों को जिमाना

जो गृहस्थ जिमाने की आमना करता है और जीमनवार करवाता है वह, साधु रसान्न की गद्ध है। ऐसे साधु के लिए निशीथ में चौमासी दण्ड कहा है। वह उस भंग कर खाली हाथ आता है, उसे साधु कैसे माना जाय ? —सा० आ० ६।७

जो गृहस्थ के पाट बाजोट आदि लाकर उन्हें वापिस देने की नियत नहीं रखता और मर्यादा लोप कर उनका सेवन करता है, उसने जिन धर्म की रीति को छोड़ दिया है। उसको निशीथ सूत्र में एक मास का दण्ड कहा है।

किवाड़ खोलना

(५४) गृहस्थ के घर गोचरी जाने पर, यदि किवाड़ को बन्द किया हुआ देखते हैं तो सच्चे साधु वहां से वापिस आ जाते हैं, द्वार खोल कर भीतर जानेवालों को साधु मत समझो।

—सा० आ० ४।११

कई दरवाजा बन्द देख कर स्वामी की आज्ञा से द्वार खोल कर भीतर जाते हैं। ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो।

—सा० आ० ४।१२

जो ऐसी ढीली प्ररूपणा करते हैं कि साधु द्वार को जड़ा हुआ पाय तो खोल कर आहार बहरने के लिए जा सकता है, वे जिन मार्ग से विटल हो गये हैं। —सा० आ० ४।१३

जो किवाड़ खोल कर आहार की गोचरी करने में जरा भी
न नहीं समझता, और जो ऐसी मान्यता को पुष्ट करता है,
कभी द्वार खोल कर न भी गया हो तो भी गये समान है।
आचार वाले को साधु मत समझो। —सा० आ० ४।१४

द्वार खोल कर भीतर प्रवेश करने से जीवों की हिंसा होती
इस सम्बन्ध में आवश्यक सूत्र का ४ था अध्ययन देख कर
य करो। —सा० आ० ४।१५

कई सांग पहर कर साध्वियां कहलाती हैं परन्तु घट में जरा
विवेक नहीं होता। वे आहार करते समय भी किवाड़
ती है और ऐसा दिन में अनेक बार करती हैं।
—सा० आ० ४।१७

जो मल मूत्र विसर्जन करने के लिए जाते समय या गोचरी
ते समय और साधुओं के यहां जाते समय किवाड़ को बंद कर
ती है उनका आचार बिगड़ गया है। ऐसी आचार वाली
ध्वियों के साध्वियां मत समझो। —सा० आ० ४।११

साध्वियों के जो द्वार बंध करने की बात आई है, वह शील-
की रक्षा के हेतु से, और किसी कारण से जो साध्वियां
वाड़ बंद करती हैं उन्होंने संयम और लाज को छोड़ दिया है।
—सा० आ० ४।१४

साधु जब किवाड़ जड़ते हैं तो पहला महाव्रत दूर होता है।
कूंठा, आगल, ढोड़ा अटकाता है यह निश्चय ही अणगार नहीं
। ऐसे [illegible] साधु मत जानो।—सा० आ० ४।१५

अंजन डालना

(५५) जो बिना कारण आँखों में अंजन डालती हैं उ
साध्वियाँ किस तरह समझा जाय, वे तो आचार को ह
चुकी हैं। —सा० आ० ४।१६

बिना कारण आँखों में अंजन डालना जिन आज्ञा के बा
है। दसवैकालिक के तीसरे अध्ययन में इसे खुले तौर पर अ
चार कहा है। —सा० आ० ४ १७

(५६) साधु मार्ग बड़ा संकीर्ण है। इस मार्ग से उल्टे पड़ क
बहुत साधु और साध्वियाँ और उनके पीछे श्रावक अं
श्राविकाएँ नर्क में गिरे हैं।

महा निशीथ सूत्र में मैंने लाखो-क्रोड़ों गुणहीन वेषधारि
के एक साथ नर्क में पड़ने की बात देखी है।

जो लिए हुए व्रत को पालन नहीं करता, जिसकी दृष्टि मिथ्य
होती है, जो अज्ञानी होता है उसके लिए खुद भगवान ने ह
नार्की बतलाई है तो फिर मैंने जो ये साधुत्व के दूषण बतला
हैं उनसे कोई कष्ट न पाये और अपने ही ऊपर किया हुआ
आक्षेप न समझे समुच्चय साधु-आचार की बात पर विचार
करें। —सा० आ० ढा० ६। दो० ५-९